बच्चों के मित्र

जे० कृष्णमूर्ति

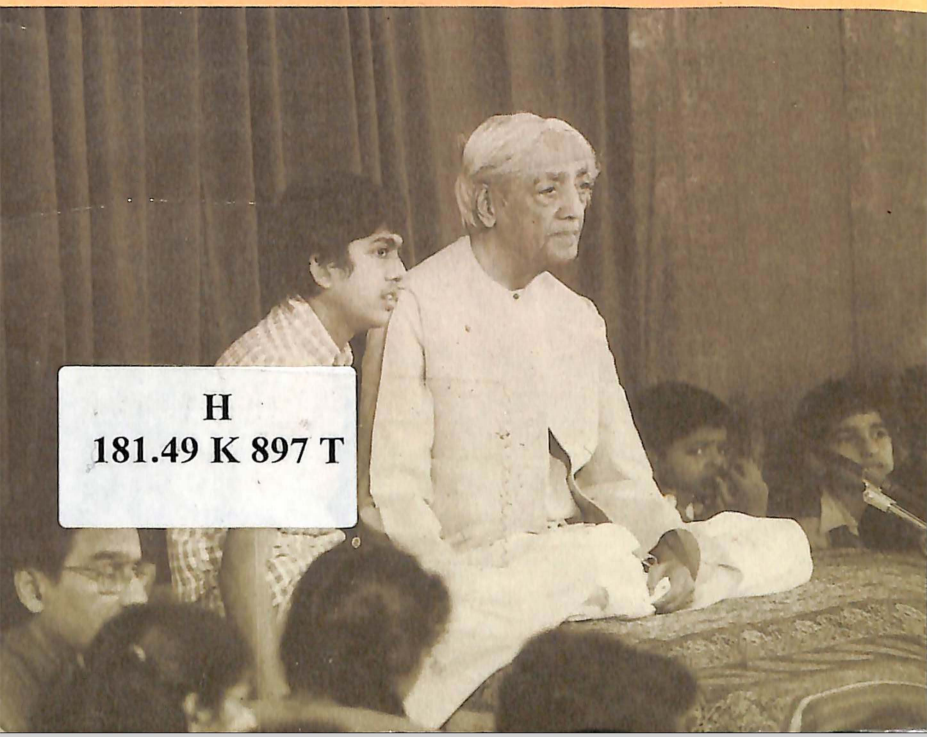

H
181.49 K 897 T

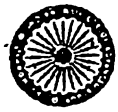

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

बच्चों के मित्र
जे० कृष्णमूर्ति

•

डॉ० इन्दु टिकेकर

•

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१

Library IIAS, Shimla
H 181.49 K 897 T
G6095

Bachchon Ke Mitra
J. Krishnamurti

•

Dr. Indu Tikekar

•

Price Rs. : 12/-

बच्चों के मित्र : जे० कृष्णमूर्ति

•

डॉ० इन्दु टिकेकर

•

संस्करण : पहला
प्रतियाँ : ५,०००
फरवरी, २००१

•

प्रकाशक :
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१

•

अक्षर संयोजन :
पाठक कम्प्यूटर
के० ६/१८, गायघाट, वाराणसी

•

मुद्रक :
सुरभि प्रिन्टर्स
इन्डियन प्रेस कॉलोनी
मलदहिया, वाराणसी-२

•

मूल्य : **बारह रुपये**

प्रकाशकीय

यद्यपि शास्त्रों में विद्या वही मानी गयी है, जो मुक्ति प्रदान करती हो—**सा विद्या या विमुक्तये!** लेकिन आज विद्यालयों-विश्वविद्यालयों में जो विद्या चल रही है वह मुक्ति नहीं प्रदान करती, मनुष्य के मन को चौतरफा बन्धनों में जकड़ती है। मानव मन और चित्त उन्मुक्त होकर अनन्त-असीम से कैसे जुड़े, उसकी प्रज्ञा-चेतना जागृत कैसे हो, मनुष्य गतिशील होकर, किस तरह हर आगत नये क्षण का, अतीत के बोझ और कुण्ठाओं से तथा भविष्य की चिन्ता-व्याकुलता से बिलकुल मुक्त होकर, सामना करे, यह आज की विद्या नहीं सिखाती। आज की विद्या तो मानव मन को वर्तमान-व्यवस्थाओं के तंत्र का गुलाम बनाती है, उसका एक पुर्जामात्र बना देती है मनुष्य को। मनुष्य एक चेतन, जिज्ञासु, गतिशील प्राणी न होकर **कोल्हू का बैल** बनकर रह जाता है, एक बने बनाये तंत्र के इर्द-गिर्द, बन्धनों में जकड़ा और एक निर्धारित परिधि में चक्कर लगाता हुआ।

जे० कृष्णमूर्ति-कृष्णजी इस युग के महान् मुक्ति साधक और उत्प्रेरक थे। विद्या को, बल्कि समग्र-सम्पूर्ण जीवन को मुक्ति की दिशा में ले जाने का आह्वान किया है उन्होंने। मनुष्य स्वयं मुक्ति की ओर कैसे उन्मुख हो, इसकी शैक्षिक प्रक्रिया सुझायी। कृष्णजी ने ऐसे किसी नये गुरु, ग्रंथ और पंथ की अवधारणा या रचना नहीं की, जो मनुष्य को एक नयी गुलामी का निमित्त बने, उन्होंने हर व्यक्ति को सत्य-शोधक, जिज्ञासु जीवन-साधक बनने की प्रेरणा जगायी है, स्वानुभूत-सत्य-दर्शन की प्रक्रिया सुझायी है।

बच्चों के मित्र : जे० कृष्णमूर्ति—शीर्षक इस पुस्तिका में जीवन साधिका डॉ० इन्दु टिकेकर ने कृष्णजी की इसी प्रक्रिया को, मानव-जगत् के लिए, विशेषकर नयी पीढ़ी के लिए उनके उत्प्रेरक सन्देश और प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है। आशा है विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रही और विद्यालय के बाहर भी रह रही नयी पीढ़ी में जे० कृष्णमूर्ति के मुक्ति-सन्देश को समझने की प्रेरणा, इस पुस्तिका के पढ़ने से, जगेगी और उत्तरोत्तर बढ़ेगी।

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, राजघाट, वाराणसी के सौजन्य और डॉ० इन्दु टिकेकर के सहज स्नेह के कारण सर्व सेवा संघ-प्रकाशन को इस महत्त्वपूर्ण पुस्तिका के प्रकाशन का अवसर प्राप्त हुआ है, इसके लिए हम दोनों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

म० गांधी बलिदान दिवस,
३० जनवरी, २००१

—**रामचन्द्र राही**, संयोजक
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

अनुक्रम

	पृष्ठ
बच्चों के मित्र : जे० कृष्णमूर्ति	५
कौन थे जे० कृष्णमूर्ति ?	६
बालक कृष्णा की विशेषता	७
उसकी अतीन्द्रिय शक्तियाँ	९
माँ का विरह	११
अड्यार निवास और थिओसोफिकल सोसायटी	१२
पढ़ाई और विश्व-गुरु बनने के लिए चुनाव	१३
डॉ० बेसेण्ट से मुलाकात और आगे की पढ़ाई	१६
डॉ० बेसेण्ट	१८
अमीर परिवार के मेहमान	१९
'ऑर्डर ऑफ दि स्टार' का बालनेता	२०
पिता से पुनर्मिलन और महान् कार्य के लिए तैयारी	२१
नित्यानन्द की बीमारी और कृष्णा का गूढ 'प्रॉसेस'	२३
कृष्णा की असामान्यता और स्वयंप्रज्ञा	२६
'प्रियतम' से एकरूपता	२७
सभी हूँ मैं	२८
नित्या का निधन और स्वप्न भंग	२९
कृष्णा का जीवन-दर्शन प्रकट होने लगा	३०
कृष्णजी का ऐतिहासिक वक्तव्य	३१
सतत-यात्री कृष्णजी	३४
'मैं-मेरे' से मुक्ति : सच्ची सुख-शान्ति और क्रान्ति	३५
जागृत निरीक्षण की कला	३६
नयी शिक्षा और शिक्षण-संस्थाएँ	३७
काल का मायाजाल	४०
भय की समस्या और मृत्यु का स्वरूप	४१
भय से मुक्ति की युक्ति	४३
सृष्टि की खुली किताब	४६
प्रेम का जादू और 'अन्य' की आहट	४६
आप स्वयं विश्व हैं !	४८
अध्यात्म की गरुड़-उड़ान	५०
द्रष्टा ही दृश्य	५०

बच्चों के मित्र : जे० कृष्णमूर्ति

''शुष्क भूमि पर पानी का बरसना एक अद्‌भुत चीज है, है न? वह पत्तों को धो डालती है, धरती को तरोताजा बनाती है। और बारिश से जैसे वृक्ष धुल गये, वैसे ही, मुझे लगता है, हम सबको भी अपने मन को पूरी तरह धोकर स्वच्छ, निर्मल करना चाहिए। क्योंकि हमारे मन अनेक शतकों की धूल से—जिसे हम ज्ञान, अनुभव कहते हैं, उनसे—बोझिल रहते हैं। यदि आप और मैं हर रोज अपने मन को निर्मल करेंगे, बीते कल की स्मृतियों से मुक्त करेंगे, तो हममें से हरएक का मन ताजा रहेगा। और ऐसे ताजे, नित्य नये मन में हमारे जीवन की असंख्य समस्याओं को सुलझाने की योग्यता आयेगी।''

स्कूल के बच्चों से बात करते समय एक बार जे० कृष्णमूर्तिजी ने यह कहा था। जीवन के प्रारम्भ से ही हमारा मन शुद्ध, ताजा और स्वच्छ हो। और, यह हम किससे सीखेंगे? वर्षा से, वृक्ष के पत्तों से, धरती से! जे० कृष्णमूर्तिजी की दृष्टि में सृष्टि ही उत्तम शिक्षक थी, वही सबसे आसान किताब थी। जब वे बच्चों से बात करते, तब प्रकृति के नये-नये रूप दिखाते, समझाते रहते थे।

एक बार उन्होंने कहा, जीवन नदी के समान है। नदी बहती रहती है, बदलती रहती है, और इसलिए स्वच्छ, पारदर्शी रहती है। गड्‌ढे में जमा हुआ पानी गन्दा होता है, सड़ने लगता है। हमारा मन भी स्मृतियों के कीचड़ में धँसा रहेगा, पड़ा रहेगा, तो उसकी भी दुर्गति ही होगी न?

आकाश के तारों से लेकर बगीचे के फूल, तितलियाँ और पंछियों की बातें वे बच्चों से करते। सृष्टि की जीवन्त किताब उन्हें कितनी प्रिय थी! बचपन में उन्हें स्कूल से भी अधिक इसी किताब ने सिखाया था। और, सभी बच्चों को इससे सीखने का मौका मिले, ऐसा वे चाहते थे।

बच्चों के मन आमतौर पर कैसे होते हैं ? सरल, निष्पाप, खेल में मस्त, खुशी और नाराजगी झट से भूलनेवाले, हवा के जैसे मुक्त विचरण करने में आनन्दित होनेवाले ! हर क्षण बदलनेवाले जीवन के नित्य नयेपन का कौतूहल बच्चों में पाया जाता है। ये गुण अधिक पनपें, ऐसी शिक्षा बच्चों को मिले, यह कृष्णमूर्तिजी की दृष्टि थी। और, इसका मुख्य कारण यही था कि उनके अपने बचपन में उन्हें सबसे निकट की साथी प्रकृति ही लगती थी। नीले आकाश से उनकी दोस्ती थी, कीड़े-मकोड़ों को निहारते हुए वे घण्टों बिताते थे और उनकी स्वप्निल आँखें दिशाओं को लाँघकर शून्य में स्थिर हो जाती थीं।

कौन थे जे० कृष्णमूर्ति ?

कौन थे ये कृष्णमूर्ति ? बीसवीं शताब्दी में विश्वभर में विख्यात हुए एक महान् सन्त ! अपने विलक्षण व्यक्तित्व के कारण सबके आदरणीय एक महामानव ! उम्र के नब्बे वर्ष तक—यानी जीवन के अन्त तक—वे बालक के जैसे निष्पाप, सरल, खुले और सहज रहे। उन्हें लगता, बच्चों जैसे प्रौढ़ लोग भी सहज और निष्कपट होंगे तो दुनिया कितनी सुन्दर बनेगी ! इन्हीं गुणों के कारण उनके जीवन में विश्व का रहस्य खुल गया। और इसी वजह से वे केवल सारे मानवों के ही मित्र नहीं, बल्कि सभी प्राणियों, समूची सृष्टि के लिए वे अपने बने। लेकिन बालकों के तो वे खास हमदर्द रहे।

उनका परिचय पाने में बच्चों को निश्चित ही आनन्द आयेगा। उनकी जीवन-दृष्टि को समझने से सहज ही शिक्षा मिलेगी।

दक्षिण भारत में **आन्ध्र प्रदेश** के मदनपल्ली गाँव में जिद्दू कृष्णमूर्तिजी का जन्म हुआ। जिद्दू उनके कुल का नाम है। माँ संजीवम्मा श्रीकृष्ण की भक्त थीं और यह बालक आठवाँ था, इसलिए इसका नाम कृष्ण रखा गया। यह स्वाभाविक ही था। कृष्णा का जन्म १८९५ ईसवी सन् के मई महीने में हुआ। ग्यारह तारीख की मध्यरात्रि समाप्त हो गयी थी और १२ तारीख का प्रारम्भ हो रहा था, घनी रात्रि का अन्धकार

मिटाकर प्रातःकाल का प्रकाश फैलना चाहता था। माता संजीवम्मा को आश्चर्य लगा कि बच्चों के जन्म के समय जो तीव्र वेदना माताओं को सहनी पड़ती है उसका इस वक्त कहीं पता ही नहीं था। गर्भावस्था से ही माँ का मन श्रीकृष्ण में ही अधिक लगा रहा था। उन्होंने बाद में अनेक निकटवर्ती लोगों को सुनाया कि अपने देवघर में जो श्रीकृष्ण का चित्र था उसमें उन्होंने सचमुच के कृष्ण—परमात्मा के एक से एक रूप—प्रत्यक्ष देखे। इसलिए मेरा आठवाँ बालक ईश्वर का ही रूप होगा, ऐसा उनका निश्चित विश्वास था। ऐसे विरले बेटे का 'कृष्ण' के सिवा दूसरा कोई नाम वे रख ही कैसे सकती थीं?

उस समय की रीति के अनुसार पिता नारायणय्याजी ने पुत्र की जन्मकुण्डली बनवायी। ज्योतिषी ने ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति देख ली और भविष्यवाणी की कि यह बालक एक महान् व्यक्ति होगा। प्रारम्भ में अनेक बाधाओं का सामना उसे करना पड़ेगा, लेकिन उसकी महानता प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी।

नारायणय्याजी का परिवार सुसंस्कृत तेलंगणा-ब्राह्मणों का था। पिता, दादा, परदादा सारे धर्मप्राण और अच्छे शिक्षित रहे। स्वयं नारायणय्या को डिग्री प्राप्त थी और वे सरकारी महसूल खाते में एक अफसर थे। उनकी नौकरी के स्थान बदलते रहते थे। १८९६ में वे कडप्पा शहर में थे। वहाँ का मौसम छोटे कृष्णा के लिए एकदम विपरीत था। उसे मलेरिया का बुखार बार-बार आता। वह स्कूल जाने लायक हो गया फिर भी उसकी बीमारी उसका पीछा नहीं छोड़ती थी। वैसे ही, बच्चों को छुटपन में माँ के साथ रहना अच्छा लगता है, कृष्णा को तो माँ का आँचल पकड़कर उसके पीछे-पीछे चलने का मौका बीमारी ने ही दे दिया। अपने प्यारे बेटे की कई बातें संजीवम्मा को, और सभी को ही, बहुत अच्छी लगतीं।

बालक कृष्णा की विशेषता

बच्चों को मिठाई खूब प्रिय होती है न? लेकिन छोटे कृष्णा को मिठाई का लोभ तनिक भी नहीं था। माँ ने कुछ खास चीज बनाकर

सभी बच्चों को दे दिया, तो कृष्णा अपने हिस्से की चीज सबमें बाँट देता, बहुत थोड़ी अपने लिए रखता। दूसरे बच्चों से मैं अधिक पाऊँ, उनसे मैं अलग हूँ, मेरी अपनी खुशी ज्यादा महत्त्व की है—ऐसा कोई भाव कृष्णा के मन में कभी उठा नहीं।

दूसरी एक बात भी थी। दरवाजे पर हमेशा कोई-न-कोई भिक्षा माँगने आता। माँ कृष्णा के ही हाथों भिक्षान्न परोसतीं, कभी अनाज दिलवातीं। अनेक लोग आते तो कृष्णा पहले व्यक्ति को ही देकर पूरा बर्तन खाली कर देता और फिर से माँ के पास दौड़ जाता बर्तन भर लेने के लिए। माँ मुस्करातीं और उसके हाथ का बर्तन फिर भर देतीं! सब कुछ दे डालने में कृष्णा को जो खुशी बचपन में होती थी, वह प्रौढ़ होने पर भी कम नहीं हो सकी!

एक दिन माँ ने भोजन के समय कृष्णा को ढूँढ़ा। कहाँ था वह? घर के एक कोने में कृष्णा ने घड़ी खोल रखी थी। घड़ी के एक-एक चक्र, काँटे, स्प्रिंग अलग-अलग फैला दिये थे उसने। घड़ी के भीतर वे सब मिलकर कैसा काम करते हैं, यह खुद ही समझने की कोशिश वह कर रहा था। माँ दंग रह गयीं। कहाँ सीखा था उसने यह सब? किसने उसे समझा दी थी घड़ी की अन्दरुनी रचना? किसी ने नहीं! 'माँ तूँ चिन्ता मत कर, मैं फिर से घड़ी को पहले जैसा ही बना दूँगा, वह फिर से टिक्-टिक् करने लगेगी, देखना!' छोटे कृष्णा ने माँ को आश्वस्त किया! और जब तक घड़ी पहले जैसी दुरुस्त नहीं बना दी, तब तक वह खाना खाने उठा ही नहीं। यंत्रों के साथ कृष्णा की दोस्ती प्रौढ़ कृष्णमूर्तिजी में आखिर तक बरकरार रही।

बचपन में कृष्णा का अधिकतर समय किस तरह बीतता होगा? कृष्णा का छोटा भाई नित्यानन्द उससे तीन साल छोटा था। दूसरे बड़े भाई और मित्र को स्कूल जाते हुए देखकर नित्या उनके पीछे भागता हुआ जाता, उसे बोलना भी नहीं आता था तब। कृष्णा को बीमारी के कारण स्कूल भाता नहीं था, यह हमने देखा, लेकिन इससे भी अधिक महत्त्व का कारण था कि उसे बन्द कमरे में, चहारदीवारी की इतनी-सी

जगह में पढ़ने की कल्पना ही पसन्द नहीं थी। खुले में पेड़-पौधों के बीच दौड़ जाने को उसका मन होता। पंछियों का चहचहाना उसे आकृष्ट करता, और अन्यमनस्क होकर वह खिड़की से बाहर देखने लगता। स्कूल के मास्टर उसके मन की यह विचित्र अवस्था समझ नहीं पाते थे। उन्हें लगता कृष्णा पढ़ाई की दृष्टि से मन्द-बुद्धि है। और फिर कृष्णा को स्कूल के लिए, किताबी पढ़ाई के लिए कैसे हो सकता था प्रेम, जब मास्टर साहब की छड़ी पीठ पर सट्-सट् बजने लगती थी?

प्रकृति का खुला विश्व कृष्णा को जितना प्रिय लगता, उतनी ही अच्छी लगती दोस्तों की, भाइयों की संगति। अपने आसपास कोई दुखी हो, गरीब हो, बेचारा हो, तो कृष्णा का दिल पिघल जाता। इस प्यार का उसके हृदय में इतना ज्वार आता कि अपना हाथ बुखार में तपते किसी के हाथ पर रखता और शीघ्र ही उसका बुखार उतर जाता। माँ कहतीं कृष्णा के हाथ का स्पर्श दवा का काम करता है। शरीर और मन की बीमारियाँ दूर करने की सिद्धि कृष्णा में जन्मजात थी, और यह भी आखिर तक रही। इस सिद्धि के पीछे उसका सबके लिए करुणा से लबालब होकर उमड़नेवाला हृदय ही था।

उसकी अतीन्द्रिय शक्तियाँ

सम्पूर्ण जीवन के लिए यह जो प्रेम कृष्णा में था, उसका अत्यन्त सूक्ष्म और सरल स्वरूप उसके बचपन में ही तीव्र संवेदनशीलता बनकर प्रकट होता था। कृष्णा की माँ में भी यह तीव्र संवेदना की शक्ति थी। यही शक्ति अतीन्द्रिय शक्ति का रूप लेती है। क्या होती है यह अतीन्द्रिय शक्ति? पहले इन्द्रिय-शक्ति क्या होती है यह समझ लेते हैं तब उसके परे की शक्ति का अन्दाज हमें आयेगा। मनुष्य के लिए ज्ञान का दरवाजा खोल देनेवाली पाँच इन्द्रियाँ अपने शरीर में होती हैं : हम आँखों से देखते हैं, कानों से हम सुनते हैं, नाक से सूँघते हैं, जीभ से चखते हैं और त्वचा के स्पर्श से नरम, कड़ी वस्तुओं का

परिचय हमें होता है। दुनिया की अनेक चीजों की जानकारी हमें इन पाँच इन्द्रियों से होती है। इनका अर्थ हम मन से, बुद्धि से, समझते हैं, अनुभव लेते-लेते हमारी बुद्धि में स्पष्टता होती है : शक्कर मीठी होती है, नीम का पत्ता कड़वा होता है, नमक नमकीन रहता है इत्यादि। लेकिन इन पाँचों इन्द्रियों से और मन से, बुद्धि से, बाहरी स्थूल चीजों के विषय में जो ज्ञान हमें होता है, उससे अलग, इन्द्रियों से परे, तीव्र प्रेम के कारण हमें अनेक सूक्ष्म, अदृश्य बातों का पता चलता है। यह तर्क के आधार से नहीं होता, प्रत्यक्ष रूप से होता है—जैसे बच्चा स्वयं माँ से कहे कि मुझे भूख लगी है, उससे पहले ही माँ को उसकी भूख महसूस होती है। दूसरे का दुख देखकर, सुख में रहनेवाले, प्रेमी व्यक्ति को दुख का अनुभव होता है। मीलों दूर से कहीं की बात सुनायी देना, कहीं का दृश्य दिखायी देना, यह सूक्ष्म-श्रवण, परोक्ष-दर्शन है। यही शक्ति अतीन्द्रिय शक्ति कहलाती है। इस शक्ति की सहायता से विश्व की वास्तविक, सच्ची अवस्था का पता भी लग सकता है। माँ संजीवम्मा और बेटा कृष्णा में यही शक्ति जागृत हुई थी। जिसका हृदय निर्मल हो, शुद्ध हो, उस व्यक्ति में यह विश्व-प्रेम-सिद्धि प्रकट होती है।

यह सब इतने विस्तार से बताने की आवश्यकता एक विशेष कारण से उत्पन्न हुई। बचपन में ही कृष्णा की बड़ी बहन की मृत्यु हो गयी और वह सूक्ष्म, अदृश्य रूप में माँ से, छोटे भाई से मिलने आया करती थी। कृष्णा अपनी माँ की अँगुली पकड़कर उसे मिलने जब बगीचे में जाता तब छोटा होने के कारण उसे भय भी लगता—क्योंकि बहन की मृत्यु के बाद उसका शरीर अग्नि में जलकर भस्म हुआ था, यह उसने अपनी आँखों से देखा था। फिर माँ ने समझाया कि पँच महाभूतों का बना शरीर—यानी पृथ्वी या मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश का बना स्थूल शरीर—भले जल गया, परन्तु सूक्ष्म वायुरूप में, सूक्ष्म अदृश्य शरीर तीव्र इच्छा के कारण घूम सकता है। छोटे-से कृष्णा ने बचपन में ही समझ लिया था कि इन्द्रियों का उपयोग करके जितनी

और जैसी दुनिया दीखती है उससे वह अदृश्य रूप में, सूक्ष्म रूप में बहुत अधिक फैली है। दुनिया सचमुच बहुत अद्‌भुत है, और हम मनुष्य, जो दुनिया का ही एक हिस्सा हैं, खुद भी कम अद्‌भुत और विलक्षण नहीं हैं!

पिताजी जब नौकरी के कारण कादिरी गाँव में थे, तब कृष्णा की उम्र छः साल की थी। इसी गाँव में कृष्णा का जनेऊ या व्रत-बंध-संस्कार किया गया। हिन्दुओं में, ब्राह्मण कुल में जन्मे लड़कों का यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार का हेतु रहता आया कि विद्याध्ययन करने की शुरुआत जब होती है तब बालक घर से, माता-पिता से चिपककर न बैठे, ज्ञान प्राप्त करने, सत्य की खोज करने, उसे मोहमाया से मुक्त होकर घर से दूर होने की तैयारी करनी चाहिए। परम्परा ने कृष्णा को जनेऊ पहनाकर ब्राह्मण की दीक्षा दी—सर्वव्याप्त जीवन-सत्य को खोजने की प्रेरणा उसके हृदय में जागृत कर दी। आगे चलकर कृष्णमूर्तिजी ने सारे मानव-जगत् को यह समझा दिया कि केवल ब्राह्मण ही नहीं, सभी मानवों को, धर्म-जाति, वंश, स्त्री-पुरुष के सारे भेद भुलकर, जीवन की विराट्, सूक्ष्म सचाई समझ लेनी चाहिए। हरएक का यह जन्मसिद्ध अधिकार है, और कर्तव्य भी। इस जीवन-सत्य को समझे बिना, अपने जीवन में उसे प्रत्यक्ष जीये बिना मनुष्य की मनुष्यता, मानवता विकसित नहीं हो सकती। यह अधिकार पाने के लिए किसी धार्मिक विधि-विधान की आवश्यकता नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में या घर में यदि खुला, प्रसन्न, प्रेमपूर्ण वातावरण होगा तो हरएक स्वस्थ बालक में यह सत्य समझने की इच्छा अंकुरित हो सकती है।

माँ का विरह

कृष्णा अब दस वर्ष का हो गया। और अचानक एक दिन संजीवम्मा का देहान्त हो गया। दस बच्चों को उन्होंने जन्म दिया था—उनमें से पाँच-छः तो उनके रहते-रहते ही मृत्यु के ग्रास बन चुके थे। अत्यन्त दिलेर थीं वे—कितने आघात सहे थे उन्होंने, फिर भी कितने प्रेम से

परिवार को सम्हालती आयी थीं वे। और अब उनके जाने से बच्चों का तो घर ही उजड़ गया! कृष्णा का मन बहुत दुखी हो गया, छोटा नित्या उसीसे चिपक गया। बड़ा भैया तो स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई में आगे बढ़ा। कृष्णा और नित्या की ज़ोड़ी साथ-साथ रहने लगी, अत्यन्त प्रेमपूर्वक। श्री नारायणय्याजी की नौकरी भी कुछ समय बाद समाप्त हुई। बच्चों को सम्हालने के लिए उन्होंने अपनी एक विधवा बहन को बुला लिया। फिर भी माँ की बराबरी दूसरी कोई भी स्त्री कैसे कर सकती थी?

कृष्णा को कभी-कभी माँ का सूक्ष्म शरीर दिखायी पड़ता। घर से निकलते समय वे दरवाजे तक उसे छोड़ने आयीं, ऐसा उसे आभास होता। एक बार उसने माँ की सूक्ष्म आकृति घर में देखी तो वह उसके पीछे भागता गया। सीढ़ी पर माँ चढ़ती गयीं और कृष्णा के उसके निकट पहुँचने से पहले ही वह अदृश्य हो गयीं। कृष्णा को तब कैसी निराशा हुई! लेकिन बचपन में माँ की सुनायी रामायण-महाभारत की कहानियाँ उसके मन में उभर कर आने लगीं, श्रीकृष्ण के दर्शन उसे होने लगे। उस पौराणिक माहौल में वह अब रमने लगा।

कभी सब मित्रों और भाइयों के साथ मन्दिर की ओर शाम के समय वह जाता। दुबले-पतले शरीर का कृष्णा लम्बे हाथ हिलाते, बड़े-बड़े कदम बढ़ाते जब सबके आगे टेकरी पर चढ़ने लगता, तब बुआ दूर से उसे देखकर अभिभूत हो जातीं। वह धीर-गम्भीर और शान्त तो था ही। बुआ ने उसका नाम प्यार से, और आदरभाव से 'द्रोणाचारी' रखा। महाभारत के द्रोणाचार्य पाण्डवों के गुरु थे न? कृष्णा वैसा कोई महान् आचार्य होगा—यह भाव बुआ के मन में आता।

अड्यार निवास और थिओसोफिकल सोसायटी

माँ के अवसान के बाद पिताजी, भाई लोग और बुआ के साथ कृष्णा भी अड्यार में रहने आया। मद्रास के निकट अड्यार गाँव है।

उन दिनों अड्यार में एक नया धर्म-विचार लेकर कुछ पाश्चात्य लोग रहने आये थे। यह नया विचार था थिओसोफी का। उसकी स्थापना १८७५ में अमेरिका में हुई थी। अत्यन्त तेजस्वी और पुरुषार्थी रशियन महिला मादाम ब्लॉवत्सकी और अमेरिकन कर्नल ऑलकॉट, ये दो व्यक्ति थिओसोफिकल सोसायटी के संस्थापक थे। १८८२ में इसका प्रमुख केन्द्र भारत स्थित अड्यार में लाया गया। विश्व के सभी महान् धर्मों की अच्छाइयों का स्वागत थिओसोफी के विचार में होता था। सारे मानव एक हैं, धर्म के नाम पर मानव-मानव के बीच झगड़ा, द्वेष, लड़ाइयाँ नहीं होनी चाहिए, यह थिओसोफी में सबसे बड़ी सर्वमान्य बात थी। पिता नारायणय्याजी सनातनी हिन्दू तो थे, लेकिन धर्म के क्षेत्र में नये विचारों का स्वागत करते थे। थिओसोफी के उदार विचार उन्हें बहुत पसन्द आये। वे नौकरी करते थे, और कृष्णा का जन्म भी नहीं हुआ था, तभी से उन्हें थिओसोफी में रुचि थी। अपने घर के देवघर में थिओसोफी की नयी अध्यक्षा डॉ० ऐनी बेसेण्ट की तस्वीर दूसरे देवी-देवताओं के साथ पूजा के लिए रखी गयी थी। और कृष्णा की माँ को भी डॉ० बेसेण्ट के विषय में जानकारी थी, वे कृष्णा को उनकी बातें बताया करती थीं।

जब पिताजी अड्यार में रहने आये तब उनका नौकरी का काल पूरा हो चुका था। उन्हें थोड़ी पेन्शन तो मिलती थी, परन्तु कुछ काम करके पैसे कमाना भी आवश्यक था। थिओसोफी के कार्यालय में कोई काम मिले, यह उनकी इच्छा थी। कुछ समय बाद ऐसा ही हुआ। वे थिओसोफी के आहाते में ही बच्चोंसहित रहने आये। पास में ही अड्यार नदी बंगाल के उपसागर से मिलती थी। कृष्णा का जीवन-प्रवाह भी अब विशाल सागर का रूप धारण करने जा रहा था।

पढ़ाई और विश्व-गुरु बनने के लिए चुनाव

छोटे-बड़े बच्चों के साथ कृष्णा मैलापुर के स्कूल में तीन मील पैदल चलकर पढ़ने जाने लगा। थककर चूर हो जाता था, फिर भी शाम

को नदी-सागर के संगम तट पर बच्चों के साथ नहाने जाना उसे बहुत भाता था। दक्षिण भारत में गर्मी बहुत होती है, और पसीना-पसीना होकर बालक तो क्या बड़े-बूढ़े भी नीले सागर-नदी के संगम पर नहाने में स्वर्ग-सुख का अनुभव करते थे। थिओसोफिकल सोसायटी में कार्य करनेवाले युवा-वृद्ध सभी इन बच्चों के साथ-साथ नहाते थे, तैरते थे, थकान उतारते थे।

ऐसी ही एक शाम थी वह। थिओसोफी के बुजुर्ग विचारक श्री लेडबीटर साहब नहाने गये थे। उन्होंने अन्य बच्चों के साथ कृष्णा को नहाते समय देखा। उनसे किसी साथी ने कहा था कि इस बालक को वे गौर से देखें। उसे देखते ही वे समझ गये कि इस बालक में कोई खास बात है। उसकी ओर वे बार-बार देखने लगे। वहाँ पर तो उन्होंने कुछ नहीं कहा, लेकिन अपने निवास पर लौटते ही अपने युवा साथी श्री अर्नेस्ट वुड से कहा—"वह नारायणय्याजी का लड़का अद्‌भुत है! उसके चेहरे के चारों ओर कैसी निर्मल, सुन्दर आभा है! स्पष्ट ही है कि उसमें तनिक भी स्वार्थ-भावना नहीं है।" सर्वसामान्य लोगों को तो कृष्णा में कोई खास विशेषता दीखती नहीं थी। इसके बदले उल्टा ऐसा ही लगता था कि यह मन्द-बुद्धि है बेचारा! इसलिए इन बच्चों को अपने पास बुलाकर पढ़ानेवाले युवा वुड साहब को लेडबीटर साहब की बात सुनकर आश्चर्य लगा। लेडबीटरजी ने वुड से कहा : "देखना, यह लड़का आगे चलकर बहुत महान् आध्यात्मिक विभूति होगा।" वुड ने चकित होकर पूछा : "कितना महान्? डॉ० बेसेण्ट जितना?" लेडबीटरजी का उद्‌गार था : "उनसे भी महान्!"

थिओसोफी के विचार में और एक महत्त्वपूर्ण बात की मान्यता थी। आध्यात्मिक दृष्टि से मानव-जाति की उन्नति हो इसलिए समय-समय पर धरती पर महान् विभूतियाँ सूक्ष्म या स्थूल रूपों में कार्य करती हैं। मानव-जगत् में जब मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है तब ये मास्टर्स या महात्मा लोग सुयोग्य व्यक्ति को सहायता देकर विकसित करते हैं, उसको 'वाहन' के रूप में तैयार करते हैं। इन महात्माओं में

'मैत्रेय, बुद्ध, कुथुमी' इत्यादि थे—जो पूर्वकाल में हो गये। और अब डॉ० बेसेण्ट और लेडबीटर—को एक सुयोग्य बालक चुनकर विश्व-गुरु का वाहन बनने के लिए तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। अर्थात् उस बालक की सारी मदद मास्टर्स में से कोई करेंगे ही। लेडबीटर और डॉ० बेसेण्ट इसी दृष्टि से किसी युवा की खोज कर रहे थे, इतने में लेडबीटरजी की नजर कृष्णा पर पड़ी।

उन्होंने नारायणय्याजी को बुलाकर बेटे को लाने के लिए कहा। खुशी से वे कृष्णा को उनके पास ले गये। लेडबीटर साहब में भी अतीन्द्रिय शक्तियाँ थीं ही, उनके आधार पर वे कृष्णा के पूर्व-जन्मों को भी जान सके और कृष्णा ने पहली बार किसी अंग्रेज व्यक्ति को इतना अच्छा व्यवहार करते हुए देखा, इसलिए उसे भी आश्चर्य और आनन्द हुआ। अंग्रेज तो भारत में राज्य चलानेवाले थे, भारतीय मात्र गुलाम थे उनके, उनसे अंग्रेज बराबरी का, सम्मान का भाव कैसे रख सकते थे? कृष्णा के साथ के सारे बच्चे यही मानते आये थे। इसलिए लेडबीटर साहब ने कृष्णा को पढ़ाने की दृष्टि से बार-बार बुलाना शुरू किया। तब वह खुश हुए बिना कैसे रह सकता था? पिताजी भी राजी थे।

कृष्णा के साथ अब नित्यानन्द भी जाने लगा इन अंग्रेज अध्यापकों के पास। वास्तव में नित्या को छोड़कर अकेला कृष्णा कुछ भी करने को तैयार नहीं होता था। खाना-पीना, पढ़ाई-लिखाई, खेलना-कूदना सब साथ-साथ चलता था उनका। मानो शरीर दो, प्राण एक थे उनके। लेडबीटरजी को जब पता चला कि स्कूल इतना दूर है, और कृष्णा की रोज पिटायी होती है, तब स्कूल की पूरी छुट्टी करके इन दोनों भाइयों की पढ़ाई थिओसोफिकल सोसायटी के अपने बंगले पर ही कराने की व्यवस्था उन्होंने करवायी। अब केवल इतिहास, भूगोल, गणित, भाषा आदि जैसे स्कूल के विषय ही नहीं पढ़ाये जाते थे। नहाना-धोना,

तैरना, घूमना, खेलना, कपड़े कैसे पहनना इत्यादि सब कुछ इन अंग्रेज अध्यापकों के पास दोनों भाई सीखने लगे। स्कूल की छुट्टी होने से उनको अच्छा तो लगा, लेकिन यहाँ का शिक्षण कम सख्ती से नहीं हो रहा था। चौबीस घण्टे निगरानी रहती थी। स्कूल के साथ घर भी छूट-सा गया। डॉ० बेसेण्ट इस समय अमेरिका में थीं और भारत आनेवाली थीं। तब तक दोनों भाइयों की अंग्रेजी इतनी अच्छी हो जानी चाहिए कि उनके आने पर उनके साथ बातचीत करने की कुशलता इनमें आ जाय, यह जरूरी था।

डॉ० बेसेण्ट से मुलाकात और आगे की पढ़ाई

डॉ० बेसेण्ट ने अड्यार पहुँचकर कृष्णा को देखा। वे खूब प्रसन्न हुईं। अंग्रेजी किस तरह पढ़ना, वे स्वयं ही सिखाने लगीं। लेकिन फिर उन्हें बनारस जाना पड़ा। कृष्णा और नित्या को बनारस ले जाने से पहले कृष्णा को मास्टर कुथुमी ने दीक्षा दी। इस दीक्षा के समय डॉ० बेसेण्ट अड्यार में नहीं थीं। लेडबीटर और कृष्णा स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म रूप में मास्टर्स से मिलने रात के समय जाते रहे। इसका वर्णन कृष्णा ने बनारस में डॉ० बेसेण्ट को लिख भेजा। कृष्णा का सभी तरफ से विकास हो रहा है यह देखकर डॉ० बेसेण्ट दोनों भाइयों के आगे के शिक्षण का विचार करने लगीं। ईश्वर के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए, मानव के विकास के लिए जो जरूरी गुण—निष्पापता, सरलता, निर्लोभता—विश्व-गुरु बनने जा रहे युवा में होने आवश्यक थे, वे कृष्णा में पहले से ही मौजूद थे। मास्टर्स ने उसे स्वीकारा भी था। आवश्यकता थी अब सारे समाज के बड़े-बड़े लोगों के बीच निर्भीकता से, ज्ञान-विज्ञान से परिपक्व होकर खड़े होने की। इसके लिए विदेशी युनिवर्सिटी में कृष्णा और नित्या पढ़कर तैयार हों, यह डॉ० बेसेण्ट चाहती थीं। वे दोनों भाइयों को अपने साथ बनारस ले गयीं और १९११ में इंग्लैण्ड भी दोनों साथ गये।

लेकिन ऑक्स्फोर्ड जैसी विदेशी युनिवर्सिटी में शिक्षण प्राप्त करने में कृष्णा के लिए दो प्रमुख अड़चनें थीं। एक अड़चन थी कि इंग्लैण्ड के अखबारों में यह वार्ता फैल चुकी थी कि भारत का एक नवयुवक विश्व-गुरु बनने जा रहा है। बुद्ध और ईसा के बाद अब यह नया 'मसीहा' आ रहा है, ऐसी प्रसिद्धि होने से कृष्णा का कई लोग मजाक करने लगे थे। अखबार की प्रसिद्धि से कृष्णा को संकोच होना स्वाभाविक था। अब कौन-सी युनिवर्सिटी भावी 'मसीहा' को डिग्री देने और अध्ययन करने के लिए प्रवेश देना चाहती? कैम्ब्रिज और ऑक्स्फोर्ड में प्रवेश इसी वजह से नहीं मिल पाया।

एक दूसरा कारण भी था। पिताजी नारायणय्याजी को थिओसोफी के लिए प्रेम और आदर था, डॉ० बेसेण्ट के लिए पूज्य भावना थी। इसलिए प्रारम्भ में दोनों बेटों की पढ़ाई ही नहीं, उनका जीवन भी उन्होंने डॉ० बेसेण्ट के हाथों में सौंप दिया था। लेकिन जैसे-जैसे कृष्णा और नित्या घर से, परम्पराओं से दूर होने लगे, वे पूरी तरह अंग्रेज बनेंगे, ऐसी आशंका पिता के मन में उभरने लगी। बेटों पर कुसंस्कार हावी हो जायेंगे, ऐसा भय उनके मित्रों ने भी पैदा किया। तब कोर्ट में केस करके उन्होंने बेटों की वापसी का प्रयत्न किया। कोर्ट ने प्रारम्भ में उनकी बात मान ली। लेकिन इंग्लैण्ड की प्रीवी-कौन्सिल में डॉ० बेसेण्ट ने अर्जी दी। अब कृष्णा अठारह वर्ष का हो चुका था, स्वयं निर्णय कर सकता था। जिनके जीवन का क्षितिज एक बार विस्तृत हो गया वे युवक क्या फिर से पुराने पिंजड़ों में वापस जाना चाहते? विदेश जाकर ज्ञान-विज्ञान का, आधुनिक संस्कृति का और अपने सर्वांगीण विकास की सम्भावना का नया विश्व ही कृष्णा और नित्या ने देख लिया था। दोनों ने डॉ० बेसेण्ट के पास ही रहने का निर्णय लिया। यह निर्णय उन दोनों के लिए ही नहीं, सारे मानव-जगत् के लिए कितना उपकारक सिद्ध हुआ, यह आगे चलकर सिद्ध हुआ।

लेकिन इस केस को भी अखबारों में प्रसिद्धि मिल गयी। परिणाम यह हुआ कि दोनों भाइयों को, ऐसी विवादास्पद स्थिति के कारण भी, कोई युनिवर्सिटी प्रवेश देने को तैयार नहीं हुई! इसलिए लन्दन में ट्यूटर्स रखकर ही इनकी पढ़ाई करने के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं था। ऐसा ही हुआ।

डॉ० बेसेण्ट

हम कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनों भाइयों को कैसी मानसिक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा होगा! फिर भी विदेश के पराये और अनिश्चित वातावरण में कृष्णा और नित्या टिक सके, आगे बढ़ सके, इसका प्रमुख कारण था डॉ० बेसेण्ट का वात्सल्य-भाव। माँ का वियोग तो दस साल की उम्र से ही सहना पड़ा था। काफी समय बाद कृष्णा ने डॉ० बेसेण्ट को लिखा था—"१९१० में पहली बार जब आपको भारत में देखा तब से आपके प्रेम और हिफाजत को मैं अनुभव करता आया हूँ।"—तभी से दोनों भाई उन्हें 'अम्मा' कहते आये। डॉ० बेसेण्ट उन दोनों के लिए अत्यन्त उदार और उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए समर्पित थीं। इतना गहरा प्रेम और सम्मान का भाव उनमें नहीं होता तो कृष्णा-नित्या विदेश में स्थिर होकर रह ही नहीं सकते थे।

लेकिन इन युवकों की माँ के समान पूरी सम्हाल करनेवाली डॉ० बेसेण्ट कोई सामान्य घरेलू स्त्री तो थीं नहीं। थिओसोफी के कार्य में आने से पहले ही वे इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन में अपने बगावती विचार और कार्य के कारण काफी विख्यात थीं। वे एक अच्छी वक्ता थीं, तेजस्वी थीं, स्त्रियों के लिए, गरीबों के लिए, गुलाम देश के लोगों के लिए वे न्याय, बराबरी और आजादी की माँग लेकर समाज में कार्य करती थीं। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, निरीश्वरवादी ब्रॉडलॉ जैसे विख्यात लोग और अन्य समाजवादी उनके साथी-मित्र थे। बाद में ब्लॉवत्सकी के थिओसोफी के सन्दर्भ में, पौर्वात्य ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में ग्रंथ

पढ़कर वे थिओसोफिस्ट बनीं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत की आजादी के लिए वे विशेष रूप से कार्य कर रहीं थीं। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी जैसे भारतीय नेताओं के साथ उनकी निकटता थी। भारत के लिए 'होम-रूल'—यानी स्वराज्य की माँग को लेकर उन्होंने आन्दोलन किया। वे खुद अंग्रेज थीं, फिर भी उनके सरकार-विरोधी कार्यों के कारण अंग्रेज सरकार ने उन्हें कारावास की सजा दी थी। इस कार्य में और थिओसोफी के लिए व्याख्यान, लेखन, प्रवास इत्यादि में व्यस्त रहने के कारण कृष्णा और नित्या को वे पूरा समय तो दे नहीं सकती थीं। लेकिन कृष्णा के साथ उनके पत्र-व्यवहार, प्यार और निगरानी का सिलसिला आखिर तक यानी—१९३३ ईसवी तक कायम रहा।

अमीर परिवार के मेहमान

इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में भी जब कृष्णा-नित्या शिक्षण के लिए रह रहे थे तब यानी १९११ से लेकर '२२ तक के कालखण्ड में डॉ० बेसेण्ट की मित्र और थिओसोफी में गहरी रुचि लेनेवाली कुछ महिलाओं ने इन दोनों को इतना अपनत्व दिया कि ये उनके घनिष्ठ मित्र बन गये। विशेष रूप से इंग्लैण्ड की लेडी एमिल लट्यन्स और उनका परिवार कृष्णा-नित्या का परिवार बन गया। बहुत प्रेम और आदर-सम्मान से वहाँ इनकी देखभाल होती थी। फ्रान्स में मदाम दा मॅन्झिअर्लि का परिवार भी कृष्णा-नित्या के लिए सब कुछ करता रहा। नित्यानन्द कॉलेज की पढ़ाई में खूब तेज था। वह बैरिस्टर बनेगा, ऐसी उम्मीद सबको थी। वह वकालत की पढ़ाई करने में तत्पर दिखायी दिया। कृष्णा को मैट्रिक की परीक्षाओं में भी पास होना मुश्किल हो जाता था। परन्तु अंग्रेजी और फ्रेन्च भाषाओं में उसकी प्रगति खूब अच्छी थी। अच्छे कवियों के—विशेषत: शेली और कीट्स की कविताएँ उसे बहुत प्रिय लगती थीं।

तत्कालीन सामाजिक माहौल का भी असर इन दोनों पर होना स्वाभाविक था। जिन अमीरों के समाज में वे पल रहे थे, उसका प्रभाव उनकी जीवन-शैली पर भी पड़ रहा था। अच्छे कपड़े, जूते, टाय, मोटर में सैर, फैशनेबल लोगों में घुल-मिल जाना—यह सब उनकी रुचि के विषय हो गये थे। इसमें कृष्णा का मन इतना रम गया कि ऐसा लगने लगा—जिन उद्देश्यों के लिए उसे यहाँ विदेश लाया गया, उसका क्या होगा? क्या वह मानव-समाज को धार्मिक उत्थान के रास्ते पर आगे ले जा सकेगा? ऐसी आशंकाएँ डॉ० बेसेण्ट के मन में उठने लगीं। परन्तु कृष्णा का जीवन विश्व-गुरु के रूप में महान् होगा, मार्गदर्शक होगा और महात्मा लोग उसे ऊँचा उठाने में सहायक होंगे, यह श्रद्धा उनमें इतनी गहरी थी कि वे निश्चिन्त होकर कृष्णा के जीवन का ऊपरी परिवर्तन देखती रहीं। वास्तविकता भी यही थी कि बाहरी तौर पर कृष्णा फैशनेबल लड़का अवश्य लगता था, किन्तु बारीकी से सब ओर निरीक्षण करना, गहराई में डूबे रहना और जीवन के अर्थ की स्वतंत्र रूप से खोज करना—ये महानता के सारे विलक्षण गुण उसमें विकसित होते ही रहे।

'ऑर्डर ऑफ दि स्टार' का बालनेता

कृष्णा के धर्म-कार्य में सहायता करने के लिए डॉ० बेसेण्ट ने एक स्वतंत्र संस्था १९११ में ही स्थापित की थी। उसका नाम था—**ऑर्डर ऑफ दि स्टार**। कृष्णा ही उसका प्रमुख था। 'स्टार' और थिओसोफी के सभा-सम्मेलनों में कृष्णा का व्यवहार और वक्तृत्व गम्भीर, ओजस्वी और जिम्मेदारी के होते। बनारस में ही प्रोफेसर ई० ए० वुड हाऊस ने कृष्णा का शिष्यत्व स्वीकारा था। उन्होंने कृष्णा का—अपने इस युवा आध्यात्मिक गुरु का—हृदयस्पर्शी वर्णन किया है : "हम सब पर विशेष रूप से उसकी सहजता की छाप पड़ी। उसमें तनिक भी दिखावा या कृत्रिमता नहीं। उसका स्वभाव अभी भी संकोची.... सभी के लिए

उसका व्यवहार भद्रता का रहता.... उसके स्नेही स्वभाव के कारण उसकी ओर आकर्षित होना सबके लिए स्वाभाविक.... अपनी गूढ़, रहस्यमय भूमिका का उसे बिलकुल ही भान नहीं है।.... उसमें दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है—स्वार्थशून्य शान्त भाव का.... खुद अपना विचार उसके पास फटकता ही नहीं। हम कोई उसके ऐसे अन्ध-भक्त तो नहीं ही थे कि उसमें पूर्णता ही (आदर्श व्यक्तित्व ही) देख पाते हों। हम प्रौढ़ थे, शिक्षाविद् थे....। कृष्णा में यदि दम्भ, अहंकार अथवा दिखावे का अंश मात्र भी होता या 'पवित्र बालक' होने का (अहं) भाव होता, या फिर दाम्भिक अहंमन्यता उसमें झलकती, तो हम निश्चित ही प्रतिकूल निर्णय देते।''

यह पढ़ने पर ध्यान में आता है कि जिस नवयुवक पर महानता बाहर से थोपी गयी हो, उसके भी बन्धन में न फँसने के लिए कितने महान् गुणों की आवश्यकता होती है। कृष्णा में यदि ये गुण नहीं होते तो अहंमन्यता का शिकार वह हो ही जाता। लेकिन प्रारम्भ से ही कृष्णा में 'महत्त्वपूर्ण' बनने के प्रति तिरस्कार-भाव ही रहा। जे० कृष्णमूर्तिजी की जीवन-चरित्र लिखनेवाली, उनकी इंग्लैण्ड के प्रारम्भिक दिनों से ही मित्र रही, मॅरी लट्यन्स ने लिखा है : 'वुड हाऊस द्वारा किया कृष्णा का यह वर्णन उसके आखिर तक के सम्पूर्ण जीवन पर पूर्णतः लागू किया जा सकता है।'

पिता से पुनर्मिलन और महान् कार्य के लिए तैयारी

विदेशों में इस तरह दस-ग्यारह वर्ष अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए कृष्णा और नित्या ने बिताये। १९२१ में डॉ० बेसेण्ट के साथ वे भारत आये, लेकिन थोड़े ही समय के लिए। थिओसोफिकल सोसायटी की सभाओं में कृष्णा का समय जाता ही था, परन्तु अपने पिताजी से मिलने भी नित्या के साथ वह गया। कृष्णा की एक विशेषता यह रही

कि उसे भूतकाल का स्मरण बहुत कम रहता, प्रौढ़ अवस्था में तो विस्मरण को कृष्णमूर्ति वरदान ही मानते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वकाल के संस्मरणीय किस्से भी उन्हें याद नहीं होते थे, दूसरों ने ऐसी घटनाओं के सन्दर्भ में जो कहा, वही वे सही मानते थे। पिताजी से इतने वर्षों के अन्तराल में न ही पत्र-व्यवहार हुआ था, न ही कोई सम्पर्क।

अनेक वर्षों के बाद कृष्णमूर्तिजी के बड़े भाई डॉक्टर शिवरामजी की पत्नी शारदा ने यानी कृष्णा की भाभी ने पिता-पुत्रों की उस मिलन की बात बतायी थी। विदेश से लौटे अपने बेटों से मिलने के लिए पिताजी इतने उतावले हो गये थे कि उन्हें देखते ही उत्कट प्रेम के कारण वे रो पड़े! कृष्णा ने उनके हाथ अपने हाथ में लेकर सहलाया, उन्हें सांत्वना दी। दोनों भाइयों ने भारतीय परम्परा का पालन करके पिता के चरणों पर मस्तक रखकर साष्टांग प्रणाम किया था। बेटों में भी इतनी उत्कटता और प्यार उमड़ा था कि पिताजी के कहने से भाभी ने जो खास रुचिकर पदार्थ बनाये थे, उन्हें छूना भी सम्भव नहीं हुआ, केवल संतरा ही वे खा सके। तीन दिनों तक रोज कृष्णा-नित्या दौड़कर घर के लोगों से मिलने आते रहे। परन्तु बाद में आना सम्भव नहीं हो सका था। अपने कार्य में कृष्णा की जिम्मेदारी काफी बढ़ गयी थी। १९२४ में पिताजी की मृत्यु हुई। परन्तु इस समय जो मिलना हुआ था, वही अन्तिम मिलन रहा।

फिर यूरोप वापस लौटना हुआ। अब तक कृष्णा-नित्या इंग्लैण्ड-फ्रान्स के अलावा श्रीलंका, ऑस्ट्रेलिया और कुछ अन्य देशों में भी सभा-सम्मेलनों के कार्य से जाते रहे थे। युवक-युवतियों, बुजुर्ग स्त्री-पुरुषों के मध्य उनके नेता, मार्गदर्शक के रूप में कृष्णा को खूब प्रेम और श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखा जाने लगा था। सभी की आँखों में उसके लिए अहोभाव छलकता था। डॉ० बेसेण्ट और ऑस्ट्रेलिया में बिशप

बने लेडबीटर साहब उस पर खुश थे। मास्टर कुथुमी का मार्गदर्शन मिलता था, अन्य महात्माओं के आशीर्वाद उसे प्राप्त थे। सचमुच ही यह विश्व-गुरु का कार्य करेगा, ऐसा विश्वास थिओसोफी के और 'स्टार' के सभासदों में, खासकर विकसित प्रौढ़ों में दृढ़ हो रहा था। १९२१ में पेरिस में हुए थिओसोफी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कृष्णा ने अपने उत्तम सभा-संचालन से सभी को चकित कर दिया था।

नित्यानन्द की बीमारी और कृष्णा का गूढ़ 'प्रॉसेस'

लेकिन नित्या की तबीयत अच्छी नहीं थी। १९२० में ही उसमें क्षयरोग के लक्षण दिखने लगे थे। तब १९२२ में, आबोहवा बदलने के लिए, सूखे मौसम से लाभ होगा, ऐसी सलाह मिलने पर, कृष्णा नित्या को लेकर कैलिफोर्निया के ओहाय ग्राम पहुँचा। उनके साथ मदद के लिए थे अमेरिका के थिओसोफिकल सोसायटी के सेक्रेटरी एक युवक शरी वॉरिंग्टन और एक अमेरिकन लड़की रोजेलिण्ड विल्यम्स्। रोजेलिण्ड थिओसोफी के वातावरण में नयी थी। नित्या का स्वास्थ्य सुधारने के अनेक उपाय वहाँ हो रहे थे।

परन्तु इसी बीच अगस्त में, कृष्णा को एक विलक्षण गूढ़ अनुभव में से गुजरना पड़ा। अध्यात्म के क्षेत्र में इसे बहुत महत्त्व का माना गया। एक दिन संध्या समय कृष्णा की पीठ में, रीढ़ का मस्तक के पास का हिस्सा अचानक फूल गया। एक छोटे-से गेंद जैसे इस फूले हुए हिस्से में अत्यन्त वेदना थी। कृष्णा की तड़पन देखना भी साथियों के लिए कष्टदायी था। तीन दिनों तक यह भयानक दर्द चलता रहा। केवल दिन में कुछ समय, जब वेदना हलकी होती, कृष्णा आनन्दित, शान्त और स्वाभाविक हो पाता। तीसरे दिन शाम को वॉरिंग्टन ने सुझाया कि आँगन के पेप्पर-ट्री (काली मिर्च का पेड़) के नीचे शायद कृष्णा को थोड़ी राहत मिलेगी। कृष्णा वहाँ बैठकर मंत्रपाठ करने लगा। साथियों को तब ऐसा लगा कि कुछ महान् आत्माएँ कृष्णा से

मिलने सूक्ष्म रूप में आयी हैं। उनमें भगवान् बुद्ध भी थे। रोजेलिण्ड ने भी इन महान् आत्माओं को देखा। कृष्णा मानो समाधिस्थ ही था। अत्यन्त आनन्द की अनुभूति उसे हो रही थी, यह स्पष्ट ही था।

इस घटनाक्रम का वर्णन काफी दिन बाद नित्या और कृष्णा ने लिखकर डॉ० बेसेण्ट और लेडबीटर साहब को भेजा। कृष्णा ने लिखा था : ''मैंने परमसुख का अनुभव किया, क्योंकि मैंने दर्शन किये। अब पहले जैसा कुछ भी नहीं रह पायेगा। जीवन के मूलस्रोत के झरने पर स्वच्छ और पवित्र जल मैंने आकण्ठ पी लिया.... अब कभी भी मैं प्यासा नहीं होऊँगा.... मैंने प्रकाश देख लिया, अब कभी घनान्धकार में रहना सम्भव ही नहीं.... दुख और दर्द की व्यथा मिटानेवाली करुणा का मैंने स्पर्श किया, यह मेरे लिए नहीं, बल्कि दुनिया के लिए.... सत्य का उद्‌गम मेरे लिए साक्षात् हो गया.... मैंने महदानन्द के, शाश्वत सौन्दर्य के झरने पर प्राशन करके तृप्ति पायी। मैं ईश्वर के प्रेम में मतवाला हो गया हूँ।''

स्वाभाविक ही था कि ऐसी अनुभूति पाने पर कृष्णा का सारा आन्तरबाह्य जीवन बदल गया। जीवन के साथ अब उसे इतनी एकरूपता महसूस होने लगी कि उसने लिख दिया : ''....मुझे पहले-पहल ऐसी असामान्य अनुभूति हुई। रास्ते की मरम्मत करनेवाला एक आदमी वहाँ था, वह आदमी मैं स्वयं था, उसके हाथ में पकड़ी हुई गैंती मैं ही था। जिस पत्थर को वह तोड़ रहा था, वह मेरा ही एक हिस्सा था, घास का नाजुक पत्ता प्रत्यक्ष मेरा प्राण था और उस आदमी की बगल में खड़ा वृक्ष भी मैं स्वयं था।.... मैं सभी चीजों में था, अथवा यों कहूँ कि सारी चीजें मुझी में थीं, चेतन, अचेतन, वह पहाड़, वह रेंगता कीड़ा और सारे जीवधारी भी।''

मस्तिष्क और पीठ की रीढ़ में जो भयानक वेदना कृष्णा को हुई वह केवल तीन दिन ही नहीं सहनी पड़ी, लगातार अनेक दिनों तक

और बीच-बीच में जीवन भर यह वेदना होती रही। इस विलक्षण घटना को कृष्णा 'प्रॉसेस' यानी एक गूढ़ प्रक्रिया कहता था। मानो महान् आत्माओं ने कृष्णा के शरीर-मन-बुद्धि का, महान् आध्यात्मिक कार्य के लिए तैयार करते हुए, ऑपरेशन ही कर दिया। यह एक शोधन की यानी शुद्धिकरण की ही 'प्रक्रिया' थी, ऐसा कह सकते हैं। आगे भी जो इस तरह की घटनाएँ हुईं, उनके वर्णन से, भारतीय योग-शास्त्र में जिसे 'कुण्डलिनी-जागरण' कहते हैं, वही अनुभूति थी, ऐसा अनेकों ने माना। सत्य की अनुभूति के लिए, समग्र जीवन एक है, ऐसा अनुभव पाने के लिए, सत्य-शोधक का जीवन जब शुद्ध, पवित्र, निर्भय और पूर्ण निष्काम होने लगता है, तब यह 'कुण्डलिनी' जागृत होती है, और अतीन्द्रिय शक्तियों का संचालन होने लगता है, यह अनेक सन्तों का अनुभव है।

क्या है यह 'कुण्डलिनी' का जागरण? थोड़े में इतना ही कह सकते हैं कि सृष्टि की रचना में जो ऊर्जा या सूक्ष्म शक्ति संचालित होती रहती है, कार्यशील होती है उसीका एक अंश मनुष्य के शरीर में पीठ की रीढ़ के आखिरी हिस्से में सुप्त यानी गाढ़ी नींद में रहती है। जीवन में निर्मलता, सन्तुलन और निःस्वार्थता बढ़ते-बढ़ते यह शक्ति व्यक्ति की चेतना को, नसों के पुँजों को (जिन्हें योग में 'चक्र' कहते हैं) संचालित करती है। सूक्ष्म शरीरधारी महान् आत्माओं की करुणामयी दृष्टि हो तो साधक की प्रगति इस दिशा में तीव्र होती है।

डॉ० बेसेण्ट और लेडबीटर को यह वृत्तान्त जब मालूम हुआ, तब वे प्रसन्न हुए। कृष्णा की महानता का यह प्रमाण है, यह उन्होंने जाना। किन्तु उसे इसके खातिर इतनी वेदना क्यों सहनी पड़ती है, इसका स्पष्टीकरण उन्हें नहीं हुआ। मानव-जाति के दुख, व्यथा, कष्ट, तू-तू, मैं-मैं के झगड़े मिटे इस हेतु से जिस बच्चे को उन्होंने चुना, उस कृष्णा का सब कुछ इस तरह असामान्य, अद्‌भुत और रहस्यमय होना शायद जरूरी था।

कृष्णा की असामान्यता और स्वयंप्रज्ञा

१९११ के बाद अब तक कृष्णा के लिए थिओसोफी और 'स्टार' के हजारों सभासदों में इतनी अपेक्षाएँ बढ़ गयी थीं और उसके लिए केवल सम्मान का ही नहीं, विश्व-गुरु के लिए स्वाभाविक अहोभाव भी इतना व्यापक हो गया था कि अनेकों ने उसे जमीन-जायदाद—यहाँ तक कि कॅसल ऑफ एरदे-जैसा किला भी भेंट कर दिया था। आध्यात्मिक ऊँचाई के साथ ये प्रलोभन आते ही हैं। ये परीक्षा लेने ही आते हैं। कृष्णा के चित्त पर इन सबका कोई असर नहीं होता था। वह पूर्ववत् सरल, निष्कपट, खुला, निरपेक्ष बना रहा! यह असामान्यता विशेष महत्त्व की थी।

१९२२ की 'प्रक्रिया' के बाद कृष्णा का स्वतंत्र व्यक्तित्व अब प्रकट होने लगा। जो स्वयंप्रज्ञा अब तक छिपी रही थी, वह सभा-सम्मेलनों में उसके भाषणों में व्यक्त होने लगी। हजारों अनुयायियों के नेता होने से उसे अब जिम्मेदारी अधिक महसूस होने लगी। पहले से ही उसे समारोहों में बाहरी ताम-झाम, चमकीले आडम्बर अप्रिय लगते थे। अपने अन्तरंग में अब सत्य की झाँकी पाने से वह आत्मविश्वास से उपदेश करने लगा। जीवन एक है, वही प्रियतम है, उसे ईश्वर, ब्रह्म या अल्लाह, लॉर्ड इत्यादि नाम देने की क्या जरूरत है? 'जीवन' शब्द ही क्यों न रहने दें? इससे धर्म के नाम से चलनेवाले झगड़े समाप्त हो जायेंगे, ऐसा उसे लगता, और वह स्पष्ट शब्दों में कह भी देता। जीवन की एकता में उसका 'अहं' अब धुल गया था, उसकी शक्तियाँ अब उसकी नहीं रहीं, सारे विश्व की हो गयी थीं। सत्य-दर्शन का उसका अनुभव, आनन्द अब कविताओं में भी व्यक्त होने लगा। अलमस्त प्रेमी का, मार्गदर्शन का, जागरण के आवाहन को उसका काव्य और गद्य-काव्य '२० से ३०' के दशक में शब्द रूप लेकर प्रकट हुआ।

प्रियतम से एकरूपता

मेरा प्रियतम और मैं
एक हैं।....
उसीमें है मेरा विश्राम,
मेरा गौरव, वैभव,
क्योंकि उसमें,
सभी चीजों का अस्तित्व है,
और मैं सभी में हूँ।....
मेरा प्रियतम और मैं
एकरूप हैं।
जैसे एक ओसबिन्दु
सिन्धु में समा जाता है,
वैसे ही मैं,
मेरे प्रियतम के साथ
एकरूप हो गया हूँ।
....प्रियतम के हृदय की ओर
एक मात्र पथ है।
वह पथ गुजरता है
तुम से ही,
स्वयं तुम्हारे ही हृदय से,
उसकी कहानी तुम्हें
मैं सुनाऊँगा।

सभी हूँ मैं

मैं हूँ नीला आसमान और काली घटा
.... मैं पर्वतों के मध्य वृक्ष हूँ ऊँचा उठा,
और शान्त गली में डोलता हूँ बन तिनका घास का,
वसन्त का कोमल पर्ण हूँ और हूँ पर्ण बहार का हरा-भरा।
मैं हूँ स्वयं,
और हूँ कालबद्ध मानव,
त्याग भी हूँ, और हूँ, स्वामी भी गर्व से भरा!
मैं नाशवान और अविनाशी उभय हूँ।
मैं यह भी नहीं, ना वह भी,
....ना स्वर्ग हूँ ना नरक,
मैं न ही गुरु का शिष्य।
....ओ दोस्त,
मुझमें सब कुछ समाया है।
मैं पारदर्शी हूँ—निर्मल,
जैसा पर्वतीय झरना!
वसन्त के नूतन पर्ण जैसा हूँ सरल।
बहुत थोड़े मुझे जानते हैं।
वे सुखी हैं,
जो मुझसे मिलते हैं।

✹

हर व्यक्ति में एकात्म जीवन के साक्षात्कार की सम्भावना छिपी रहती है, और उसे स्वयं ही खोलकर प्रत्यक्ष करना होता है, यह कृष्णा का कहना आगे चलकर अधिक स्पष्ट रूप लेनेवाला था। थिओसोफी और 'स्टार' के बुजुर्ग और सभासद अनुयायियों में से कुछ लोगों को यह स्पष्टता अखरने लगी थी। इससे क्रमबद्ध श्रेणी में खड़े 'गुरुओं'

के सहायकों का महत्त्व कम होनेवाला था। लेकिन डॉ० एनी बेसेण्ट इतनी नम्र और कृष्णा की महानता से इतनी अभिभूत थीं कि वह स्वयं को उसकी शिष्या कहने लगीं। यहाँ तक उन्होंने जाहिर किया कि विश्वगुरु का प्रकटीकरण अब कृष्णा में होने लगा है।

नित्या का निधन और स्वप्न भंग

इस सबके बीच नित्या का स्वास्थ्य और अधिक बिगड़ने लगा था। कृष्णा उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगा था। लेकिन उसे डॉ० बेसेण्ट के साथ सम्मेलन के लिए निकलना पड़ा। नित्या ओहाय में ही दूसरे मित्रों की देखरेख में रहा। थिओसोफी के क्षेत्र में सबको यह विश्वास था कि कृष्णा के महान् कार्य में सहायक के रूप में नित्या अवश्य स्वस्थ, नीरोग होकर लम्बी आयु तक जीयेगा। कृष्णा को महान् आत्माओं ने यह आश्वासन दिया ही था। परन्तु सागर-प्रवास के मध्य में ही सूचना आयी कि नित्या का देहान्त हो गया। कृष्णा पर मानो वज्रपात हो गया! दिन-रात वह तड़पता-रोता रहा। डॉ० बेसेण्ट या दूसरे कोई भी साथी उसे सांत्वना देने में असमर्थ थे। आठ-दस दिनों के बाद वह स्वयं ही इतना शान्त, इतना तटस्थ हो गया कि श्रीलंका और भारत पहुँचने पर उसका प्रदीप्त, तेजस्वी, शान्त चेहरा देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सका कि उसमें अपने प्यारे भाई के निधन से कितना गहरा परिवर्तन हो गया। 'हेराल्ड ऑफ दि स्टार' की जनवरी, २६ की पत्रिका में नित्या के स्मरण में उसने लिखा :

''भौतिक विश्व के जो सुखद स्वप्न मेरे भाई ने और मैंने संजोये थे, वे भग्न हो गये.... हम दोनों का सह-जीवन कितना सुखपूर्ण था, अब मैं अपने जीवनभर उसका विरह सहता रहूँगा।

''एक पुराना स्वप्न विलीन हुआ और एक नया जन्म ले रहा है। जैसे ठोस भूमि में से कोई पुष्प अपना सिर ऊपर उठाता है .... मेरी नसों में व्यथा से जन्मी नयी शक्ति संचारित हो रही है, और एक नयी सहानुभूति और समझ बीते दर्द में से अंकुरित होती जा रही है। अब

अन्य लोगों को अधिक न कहना पड़े ऐसी तीव्र इच्छा मुझमें जागी है.... अब कृष्णमूर्ति के रूप में मुझमें नित्यानन्द का शरीर, प्राण समा गये हैं, इसलिए मुझे अधिक उत्कटता, अधिक श्रद्धा, अधिक सहानुभूति और प्रेम की अनुभूति हो रही है।'' फिर कृष्णा ने लिखा है कि— ''यह शक्ति, यह प्रेम शाश्वत है, अमर है, अजेय है। यह किसी भी छोटी-बड़ी हार से क्षीण होनेवाली नहीं है।''

कृष्णा का जीवन-दर्शन प्रकट होने लगा

नित्या की मृत्यु के बाद कृष्णा का जीवन-दर्शन अधिक स्पष्ट, अधिक ओजस्वी और सशक्त हो गया। लेडबीटर और अन्य कई लोगों की मास्टर्स के विषय में जो धारणा थी, वह अब नहीं रही। उनकी भविष्यवाणियाँ सौ फीसदी सत्य होंगी, यह विश्वास समाप्त हो गया, परन्तु मास्टर्स और बोधिसत्व मैत्रेय तथा बुद्ध के विषय में, उनके सूक्ष्म अस्तित्व और कार्य के सन्दर्भ में उसकी मान्यता आखिर तक कायम रही। थिओसोफी के विचार-दर्शन के साथ कुछ मतभेद अवश्य उभरे और वे सन् १९२९-३० तक अधिक प्रकट भी होने लगे थे, परन्तु बुनियादी बातों में मतभेद की गुंजाइश नहीं थी। मूलतः सारे मानव समान हैं, एक हैं। धरती पर शान्ति और प्रेम का राज्य लाना हो, तो सत्य के साक्षात्कार की नींव आवश्यक है। ये मूलभूत बातें किसी को अमान्य हो नहीं सकतीं। परन्तु अपनी मुक्ति के लिए, सत्य-दर्शन के लिए विश्वगुरु की राह देखते रहना, उस पर अपना सारा भार डाल देना—यह परावलम्बन कृष्णा की दृष्टि में, सत्यशोधन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। धार्मिक कर्म-काण्ड, विश्वगुरु का या आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित व्यक्तियों का माहात्म्य बढ़ाना, क्रमबद्ध तरीके से उनके सहायक निश्चित करना, ये बातें कृष्णा को अमान्य थीं। इन बातों से थिओसोफी की उदात्त भूमिका का अपमान होता है, वह हास्यास्पद बनती है, और ईर्ष्या, अहंमान्यता आदि दोषों को बढ़ावा मिलता है, यह कृष्णा ने अनुभव से समझ लिया था। स्पष्ट शब्दों में उसने सबको जताया : ''....किसी का अनुयायी बनकर सत्य का

साक्षात्कार असम्भव है। क्रिया-कर्म से भी यह सम्भव नहीं है।'' उसका कहना था—''स्वयं अपनी ही प्रज्ञा से और आन्तर चक्षु खुलने से साक्षात्कार होता है, शान्ति और अमर आनन्द की प्राप्ति होती है।''

ये विचार लेडबीटर जैसे बुजुर्गों को और अरुण्डेल जैसे युवकों को निराशाजनक और उनकी अपनी मान्यताओं के विरोधी लगे हों तो क्या आश्चर्य? विश्वगुरु अपनी बातों का समर्थन करेगा और अपने कहने के अनुसार कार्य करेगा, यह मान लेना यानी अपने ही माहात्म्य को बढ़ाना था। कृष्णा के लिए यह सहन करना सम्भव नहीं था। लेडबीटर साहब ने तो यहाँ तक कह दिया : ''विश्वगुरु का आगमन गलत दिशा में गया।''

सन् १९२६ से '२९ तक विभिन्न स्थानों पर हुए सभा-सम्मेलनों में कृष्णा अपनी नयी भूमिका स्पष्ट करता गया, सबको समझाता गया। बुजुर्गों के लिए और सर्वसामान्य सभासदों के लिए उसका व्यवहार अत्यन्त सम्मानपूर्ण और प्रेम का ही रहा, परन्तु सत्य की अनुभूति ने उसे जो सिखाया था, उसे जो दृष्टि दी थी, उसके विपरीत कुछ भी स्वीकारना यानी असत्य के साथ समझौता है, यह उसे स्पष्ट रूप से लगा। कृष्णा ने इस सारे सन्दर्भ में बहुत ही हिम्मत और धैर्य की पराकाष्ठा का परिचय दिया। उसकी स्पष्ट दृष्टि, निर्लोभ वृत्ति उस समय सबको चकित कर गयी। अपने उद्गारों का बड़ों पर और मित्रों पर क्या परिणाम होगा या अपने व्यक्तिगत भावी जीवन का क्या होगा—इसका तनिक भी विचार उसके मन में आया नहीं। उसके अद्भुत सहज त्याग और निर्भयता से अनेक लोगों को प्रेरणा मिलती रही है।

कृष्णजी का ऐतिहासिक वक्तव्य

इस प्रसंग के कारण कृष्णा का व्यक्तित्व मानो आसमान को छू गया, विश्वव्यापी हो गया। १९२९ में ओहाय और ओमेन के कैम्पस् में हजारों की संख्या में अनुयायी समुदाय उपस्थित था। उनको सुनाये

गये अत्यन्त प्रेरक उद्‌बोधन अब हम पढ़ेंगे। और अब हम इन्हें 'कृष्णा' नहीं, 'कृष्णजी' कहेंगे। अत्यन्त सम्मान और पूज्यभाव से भारत में लोग कृष्णा को कृष्णजी ही कहते हैं।

ओहाय में उन्होंने कहा : ''आज मैं जो कह रहा हूँ, वह दम्भ या अहंभाव के कारण नहीं, बल्कि पूरी समझदारी के साथ, समग्र मन और हृदय से निवेदन कर रहा हूँ कि मैं जीवन का वैभव प्रकट करनेवाली वह पूर्ण ज्वाला हूँ जिसमें सभी मानव, और समूचा विश्व समर्पित होकर आनेवाले हैं।''

अगस्त में हुए ओमेन कैम्प में कृष्णजी ने घोषित किया : ''मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि सत्य पंथहीन है, और आप किसी भी मार्ग से, किसी धर्म या पंथ से उसके निकट नहीं पहुँच सकते।.... सर्वप्रथम यदि आप इस बात को समझ लेते हैं तो आप देख सकेंगे कि कोई भी विश्वास या मान्यता संगठित करना कितना असम्भव है। विश्वास एक अत्यन्त व्यक्तिगत चीज है, उसको आप संगठित रूप नहीं दे सकते....। यदि आप उसका संगठन करते हैं तो वह मृत हो जाता है.... फिर उसका एक पंथ या धर्म बन जाता है, जो दूसरों पर लादा जाता है।

''दुनिया में हर व्यक्ति सर्वत्र यही करने का प्रयास कर रहा है। सत्य को संकुचित बनाया जाता है और जो कमजोर हैं, केवल क्षणिक असन्तोष महसूस करनेवाले हैं, उनके लिए सत्य को एक खिलौना बना दिया जाता है।.... सत्य को नीचे नहीं उतारा जा सकता, व्यक्ति को ही वहाँ तक चढ़कर जाने का प्रयत्न करना होगा। आप पर्वत की चोटी को घाटी में नहीं ले आ सकते....। इसीलिए 'ऑर्डर ऑफ दि स्टार' का विलय करना होगा।''

कृष्णजी का कहना था कि सत्य-साक्षात्कार के लिए संगठन खड़ा करने से वह व्यक्ति के लिए, एक बैसाखी, एक बन्धन बनकर उसे कमजोर बना डालता है।''बन्धन से मुक्त, उपाधिरहित समग्र सत्य को स्वयं खोज लेना हर व्यक्ति की अद्वितीयता है।'' इसमें संगठित संस्था

बाधा बनती है, व्यक्ति की स्वयंप्रज्ञा और विशिष्टता को संस्था दबा देती है। कृष्णजी ने कहा, ''इसीलिए 'स्टार' का विलय आवश्यक है।'' और, अपनी व्यक्तिगत महत्ता समाप्त करने के लिए, अनुयायियों का परावलम्बन और उनकी दीनता को खत्म करने के लिए उन्होंने 'स्टार' के समाप्ति की घोषणा की।

अन्त में उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य प्रकट किया : ''नये पिंजड़े बनाना या उनको शृंगारित करना मेरा काम नहीं है। मेरी एकमात्र आस्था है : मानवों को परिपूर्ण रूप से बन्धन-मुक्त, स्वतंत्र करना।''

इसके पश्चात् कृष्णजी ने अपने कार्य के लिए दान में मिली जमीन-जायदाद दाताओं को वापस कर दी।

और १९३० में थिओसोफिकल सोसायटी का सभासदत्व भी उन्होंने छोड़ दिया।

अब तक के अपने अनुयायियों से उन्होंने कहा था : ''मैं आपको कोई शरबत पिलाकर सत्य का साक्षात्कार करा दूँगा, ऐसा आप मानते हैं, लेकिन यह भ्रम है। ऐसा कभी नहीं होगा।'' परन्तु एक बात का अहसास उन्हें प्रारम्भ से अन्त तक नित्य रहा : अपना जीवन धरती के मानवों की आध्यात्मिक भूख जगाने के लिए, हरएक को अपना 'मैं' मिटाने की प्रेरणा देने के लिए है, और इस दिशा में मार्गदर्शन देने के लिए है। इस बात का इनकार उन्होंने कभी नहीं किया कि वे एक विशिष्ट अर्थ में विश्व-गुरु हैं।

सतत-यात्री कृष्णजी

सन् १९३०-३१ से लेकर १९८६ की फरवरी में, ओहाय में ही पॅन्क्रिया के कैन्सर से ९१ साल की आयु में देहान्त होने तक, कृष्णजी का जीवन सतत एक यात्री का, परिब्राजक का रहा। न तो किसी संस्था या संगठन के घोंसले का उन्होंने आश्रय लिया, न ही अपने को किसी एक देश का, किसी एक भाषा का या किसी विशिष्ट संस्कृति का माना। मुक्त पंछी की तरह कृष्णजी नित्य सम्पूर्ण मुक्त जीवन का गीत गाते हुए विचरण करते रहे।

अहंकारी और अहंमन्य अथवा दीन-हीन इन दोनों प्रकार के 'मैं' के घेरे से मुक्त थे वे। बीते कल और आनेवाले कल, इन काल के दो बिन्दुओं के परे, अनन्त को, असीम को अपने में समेटनेवाले कालातीत वर्तमान के क्षण में नित्य जीनेवाले थे कृष्णजी। इसीलिए उनकी चेतना सर्वव्याप्त, शून्य, 'न-कुछ' बनकर 'सब-कुछ' यानी सम्पूर्ण जीवन का मूर्त रूप हो गयी थी। क्या था इस महामानव का बच्चों और बड़ों के लिए सन्देश? क्या था उनकी वाणी का—जो अनेक ग्रंथों में, अनेक

भाषाओं में प्रस्तुत हुई है—व्यक्त-अव्यक्त सार-स्वरूप? थोड़े में हम यह भी देखते हैं।

'मैं-मेरे' से मुक्ति : सच्ची सुख-शान्ति और क्रान्ति

प्राचीनकाल से सारे मानवों की एक ही इच्छा, तीव्र आकांक्षा रही है—सुख और शान्ति प्राप्त हो, दुख-दर्द मिट जाय। प्रेम ही प्रेम हो, द्वेष-मत्सर, लड़ाई-झगड़ा न हो। यह उद्देश्य कैसे पूर्ण होगा? क्या केवल शरीर के रोग दूर होने से?

कृष्णजी ने अपने जीवन में घटित हुआ एक प्रसंग सुनाया था। यूरोप के ही किसी देश में, युवावस्था में ही, वे एक गली में से गुजर रहे थे। एक कुष्ठरोगी के पास होकर वे आगे बढ़े और देखा गया कि उनके स्पर्श मात्र से वह रोगी स्वस्थ हो गया। कुछ दिनों के बाद अखबार में वार्ता छपी कि वही आदमी चोरी जैसा कुछ गलत काम करके जेल का मेहमान बन गया। कृष्णजी ने कहा : "मन चंगा नहीं होगा, तो शरीर नीरोग होकर भी क्या सुख-शान्ति पा सकेगा? और अपना मन तो दूसरा कोई बदल नहीं सकता, स्वयं ही उसे बदलना होगा। अपने 'मैं' का, 'खुदी' का परिचय पाकर उसको विलीन करना होता है, तब विश्व में फैले सारे रोग—मन के, चरित्र के, परस्पर के सारे सम्बन्धों में बुनी हुई आसक्ति, द्वेष, रोग—दूर हो पायेंगे।"

मानवीय इतिहास में अनेक विचारवान् व्यक्तियों ने, समाज के नेताओं और शास्त्रियों-पण्डितों ने अपने-अपने प्रयोग करके देखे हैं। नि:स्वार्थ, प्रेमी, उदार लोगों का समाज बने, और ऊँच-नीच, गरीबी-अमीरी, अच्छे-बुरे के सारे भेद मिट जायँ, यह उनका भी हेतु रहा। इसके लिए जो प्रयास उन्होंने किये उसे 'क्रान्ति' कहा गया। यानी समाज के और व्यक्ति के दोषों को समाप्त करने के लिए परिवर्तनकारी आन्दोलन चलाकर राज्यसत्ता, सम्पत्ति, शस्त्र अपने हाथों में लेने का कार्य। इसके अनेक प्रयोग हुए, शताब्दियों से होते ही आये हैं। परन्तु

इतिहास ने दिखा दिया कि कोई 'इज्म्'—'वाद' अथवा धर्म या पंथ का नाम लेकर समाज में बदलाव लाने के सारे आन्दोलन हिंसा-प्रतिहिंसा में, परस्पर के विरोध में परिवर्तित हो गये। इन प्रयासों से युद्ध भड़के और धरती पर मनुष्य अधिक और दुखी हुआ, गुलाम बना। 'मैं' और 'मेरा' कहकर राष्ट्र, भाषा, संस्कृति, वंश के नाम पर अधिक स्वार्थी और संकुचित बन गया मानव। कृष्णजी ने समझाया कि यह 'मैं'-'मेरे' का संकुचित घेरा जब तक टूटता नहीं, केवल मानव ही नहीं, सारा विश्व ही अपने अनुभव से एक नहीं बनता, तब तक सच्ची क्रान्ति, असली बन्धुता और एकता धरती पर साकार नहीं सकती। उन्होंने कहा : ''हृदय और जीवन आन्तर-बाह्य बदल जाना, सत्ता-सम्पत्ति का मोह छूट जाना, द्वेष-मत्सर का युद्धकारी मानव-स्वभाव पलट देना, यही एकमात्र क्रान्ति है। यह क्रान्ति न तो अब तक कोई भी धर्म ला सका, न कोई 'वाद' इसे धरती पर साकार कर सका।''

जागृत निरीक्षण की कला

तब, मन का, हृदय-बुद्धि का परिवर्तन कैसे होगा? कृष्णजी ने कहा : ''अपने मन का और सारे आसपास के जीवन का निरीक्षण करके परिचय प्राप्त करने से स्वयं को परिवर्तित करने की प्रेरणा सहज ही मिलती है।'' विद्यार्थियों से उन्होंने कहा, ''यही नित्य सीखने की, सदा जागृत और तटस्थ अवलोकन की कला साधनी होगी।'' उन्होंने एक बार विद्यार्थी बालकों को समझाकर कहा : ''आप अकेले ही किसी वृक्ष के नीचे या नदी के किनारे जाकर बैठिए और आपका मन कैसे काम करता है, शान्ति से देखिए। उसे सही बनाने की कोशिश मत करिए, 'यह ठीक है, यह गलत है' ऐसा मत कहिए, बल्कि जैसे कोई फिल्म देख रहे हों वैसे उसे केवल देखिए।.... यह देखना बहुत दिलचस्प होता है, किसी फिल्म को देखने से कई गुना अधिक, क्योंकि अपना मन सारे विश्व का एक हिस्सा होता है और उसमें सभी मानवों के अनुभव समाये रहते हैं।... इस तरह आप अवलोकन करेंगे, तब आपमें

असीम करुणा अंकुरित होगी। उसीमें से महान् प्रेम उपजेगा और तब सौन्दर्य क्या है.... यह आप समझ पायेंगे।''

आज का समाज लड़ाई-झगड़ों में, स्पर्द्धा और स्वार्थ में लिपटा हुआ है। कहीं भी प्रेम, करुणा, सुन्दरता मानव-जीवन की शान्ति का, सहयोग का वरदान सिद्ध होते नजर नहीं आ रहे हैं। कृष्णजी को यही एक उपाय महत्त्वपूर्ण लगता रहा है कि जैसे शरीर को पानी निर्मल बनाता है, वैसे ही तटस्थ अवलोकन मन का मैल—युग-युग से एकत्रित हुआ वैर-भाव, स्पर्द्धा, तू-तू, मैं-मैं—धो डालेगा। अवलोकन ही अन्तरंग का स्नान है। यही शिक्षा का, नित्य सीखते रहने का मर्म है। यह युक्ति मन को इतिहास का गुलाम, ज्ञान का बोझ ढोनेवाला गधा नहीं बनने देगी। फिर मन ऐसा खुला रहेगा जैसा आकाश, ऐसा तत्पर, वर्तमान में जीनेवाला होगा, जैसे सूरज की प्रथम किरण। ऐसे सहज, भारमुक्त मन में अच्छाई पनपती है। बुराई की जड़ें उसमें टिकती नहीं, द्वेष-मत्सर उसमें से पिघलकर निकल जाते हैं। शिक्षा का वास्तविक हेतु यही बनाना होगा।

नयी शिक्षा और शिक्षण-संस्थाएँ

कृष्णजी की श्रद्धा थी ऐसे शिक्षण में। बच्चों को यह शिक्षण मिलेगा तो नया समाज बनेगा, मानव-मानव का सम्बन्ध विशुद्ध, प्रेममय होगा। इसी हेतु से उन्होंने भारत, इंग्लैण्ड और कैलिफोर्निया में अनेक स्कूलों को खोलने की प्रेरणा दी। भारत में ऐसे पाँच स्कूल हैं, जिनमें प्रमुख और पुराने हैं दक्षिण में ऋषिवॅली के और उत्तर में राजघाट, वाराणसी के। (अब पूना में सहयाद्री के नाम से छठवाँ स्कूल भी स्थापित हो गया है।)

इन स्कूलों और सभी शिक्षा की संस्थाओं में कौन-से गुणों का महत्त्व सर्वाधिक मानना होगा? कृष्णजी का कहना था—तीव्र संवेदनशीलता का विकास सबसे महत्त्वपूर्ण है। खुला यानी स्वतंत्र,

सहज, नम्र और सृजनशील मन, रटे-रटाये अभ्यास क्रम के साँचों में, परम्पराओं द्वारा निर्मित घेरों में बन्दी नहीं बनेगा। वह प्रतिभावान होगा, नित्य नया रहेगा। वह केवल अपना सुख-दुख नहीं अनुभव करेगा। समाज, प्रकृति, आसपास के वातावरण का अवलोकन करते-करते वह इतना संवेदनशील बनेगा कि पेड़-पौधों के दुख का, पंछी और तितलियों की वेदना का स्पर्श भी उसे होगा।

कृष्णजी ने एक बार बच्चों को बताया कि एक संन्यासी, यानी जिसने संसार का सारा मोह छोड़ दिया, ऐसा माना जाता है, ऐसा परिब्राजक, पेड़-पौधों के फूल बड़ी क्रूरता से तोड़ रहा था। और किसलिए चाहिए थे ये फूल उसे? किसी पत्थर के भगवान् पर चढ़ाने के लिए! एक मृत चीज पर जीवन्त, सुन्दरता की बलि दे रहा था वह।

लेकिन, आगे कृष्णजी कहते गये कि कुछ बच्चे भी अकारण ही, केवल मन की मौज के लिए, एक पेड़ की टहनी तोड़कर, मरोड़कर फेंकते जा रहे थे। यह भी क्रूरता ही है न? यदि आप अपने हर कर्म को सतर्कता से देखना सीखेंगे तो क्रूर-कर्म होंगे ही नहीं। हमारे मन का प्रतिबिम्ब हमारे प्रत्येक कर्म पर पड़ता है, अपने प्रत्येक कर्म को हमें स्वस्थ दृष्टि से देखना होगा।

संवेदनशील मन सरल, निष्पाप होता है। और यह सरल, निष्पाप मन भूतकाल के मान-अपमान को भूल जाता है। प्रौढ़ लोग मानापमान की यादों को पकड़ कर रखते हैं और प्रतिक्रिया में संसार का ही अपमान कर डालते हैं। एक बार साथ चलनेवाले किसी व्यक्ति ने जंगल के पौधों को जोर-शोर से उखाड़कर फेंकना शुरू किया, तब कृष्णजी ने कहा : आप अपनी विफलता का गुस्सा पौधों पर क्यों उतार रहे हैं?

मन सदा ताजा, संवेदनशील, निष्पाप रहे, इसलिए इसे भूतकाल से मुक्ति क्यों पानी होगी, यह हमने देखा। लेकिन भूतकाल के साथ भविष्यकाल में भी मानव का मन भटकता रहता है। मेरा भविष्य ऐसा

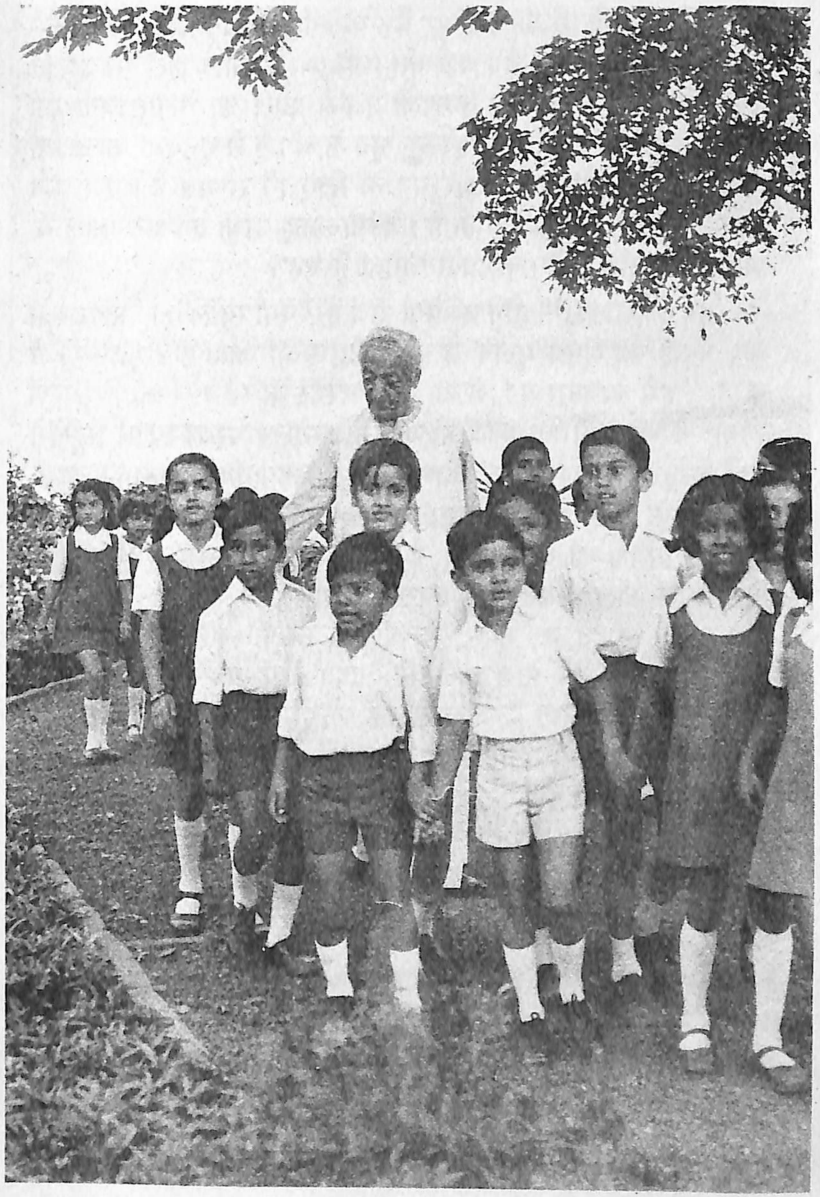

होगा, वैसा होगा, मैं यह करूँगा, वह करूँगी, ऐसे दिवास्वप्न लड़के-लड़कियाँ देखते रहते हैं। यह भूत-भविष्य के बीच झूले पर झूलते रहना मन का स्वभाव है। कृष्णजी ने इसे काल का गुलाम बना मन कहा है। भविष्य से भी मुक्त होकर, भूत के चंगुल से छूटकर, कालातीत होना, केवल वर्तमान में स्थिर मन के लिए ही सम्भव है। ऐसा मन गहन- गम्भीर, तरोताजा होता है। वर्तमान का, अभी का क्षण काल के जाल से छूट जाता है। कालातीत होता है वह।

मन का कालातीत होने का क्या अर्थ है ? क्या स्कूल का, क्लासरूम का, पढ़ाई का समय भूलने से कालातीत हुआ जाता है ? कृष्णजी ने कहा, ''हमें व्यवहार का, शिक्षा का, परस्पर के सम्बन्ध का विस्मरण होगा, तो जीना ही असम्भव हो जायेगा। स्टेशन पर समय से पहुँचेंगे नहीं तो ट्रेन छूट जायेगी।'' कृष्णजी ने समझाया कि ''मन का काल, व्यवहार के काल से अलग है। वह तो सापेक्ष है। और व्यवहार का काल है प्रत्यक्ष जो घटित होता है।'' वैसे तो अणु-विज्ञान मानता है कि सम्पूर्ण काल ही सापेक्ष है। परन्तु कृष्णजी मन की भूत-भविष्य में झूलनेवाली आदत के, खतरों के बारे में सबको समझाते रहे। कोई लड़का कहेगा, ''मैं आज चोरी की आदत में फँसा हूँ, बीड़ी-सिगरेट की बुरी लत मुझे लगी है, कल से इन्हें छोड़ूँगा।'' कृष्णजी कहते हैं : ''काल का कोई भरोसा नहीं, यह 'कल' कभी आयेगा ही नहीं! आज, अभी इस बुराई का पल्ला छोड़ो, केवल उसकी वास्तविकता को देखो और छोड़ो।'' ऐसा करने पर ही मन 'काल' के फन्दे से छूटता है, नित्य ताजा, वर्तमान में छिपे अनन्त का निवासी बनता है।

काल का मायाजाल

भारत में मन के बुने हुए इस भूत-भविष्य के मायाज़ाल को समझानेवाली कई कथाएँ प्रचलित हैं। श्रीमती पुपुल जयकर द्वारा लिखे कृष्णजी के जीवन-चरित्र में कृष्णजी को खूब पसन्द आयी एक पुराण-कथा का जिक्र किया गया है। एक बार भगवान् विष्णु को नारदजी ने

कहा—''माया क्या है, कैसी है—मैं समझना चाहता हूँ।'' श्री विष्णुजी ने कहा—''वह तो समझ जाओगे, पहले मुझे एक ग्लास पानी पिलाओ, खूब प्यास लगी है।'' नारदजी पानी लाने गये। तालाब में घुसे, पानी लाने से पहले नहाने के लिए उन्होंने डुबकी लगायी, तो उनका विश्व बदल गया। वे एक राजरानी बने। सुन्दर पति था। बाल-बच्चे हुए। थोड़े समय बाद युद्ध हुआ तो पति मारा गया, बाल-बच्चे नहीं रहे। दुखी होकर श्मशान के पास तालाब में नहाने गये। और, पलट कर पुनः पुरानी दुनिया में लौट आये। और आश्चर्य से देखने लगे, तो श्री विष्णु ने कहा, ''नारद, दस मिनट हो गये, अभी तक मेरा पानी का ग्लास क्यों नहीं ले आये तुम?''

तो यह हालत है, मन की! वर्तमान के क्षण में टिके रहना मन के लिए बहुत कठिन हो जाता है। हर क्षण के तटस्थ अवलोकन की कला ही मन का जाल बुनने की आदत छुड़ाती है।

भय की समस्या और मृत्यु का स्वरूप

क्षण-क्षण के निरीक्षण से एक और महत्त्वपूर्ण संकट से छुटकारा मिलता है। यह संकट है मृत्यु का! छोटा क्या, बड़ा क्या, हरएक को मृत्यु का भय लगा रहता है। वास्तव में नित्य का, हर पल का बदलाव ही तो मृत्यु है! पुराना पल मर गया, नया आया—आया और पलट गया! जीवन के सिक्के की दूसरी बाजू ही मृत्यु है। काल की इस गति में बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। जीवन में ही छिपा हुआ, गुँथा हुआ मृत्यु का यह रूप जो देख लेता है, समझ लेता है, वह मन क्या मृत्यु से डरेगा?

एक बार स्कूल के बच्चों के साथ बात करने के लिए कृष्णजी बैठे थे। प्रश्नोत्तर का वह समय था। कृष्णजी बच्चों और युवकों में प्रश्न करने की, परीक्षण और छानबीन करने की प्रवृत्ति बढ़े, यह चाहते थे। मुक्त वातावरण में प्रश्न उठाते जाने की, संशय प्रकट करने की सहूलियत रहती थी। खुलकर पृच्छा करने से जीवन के अनेक अंग-उपांग स्पष्ट

होकर स्वयं बोलने लगते हैं। इस शैक्षिक संवाद में, वार्तालाप में प्रकट होनेवाली अभिव्यक्ति बच्चों के कोमल मन में नया आत्मविश्वास पैदा कर देती है। कृष्णजी इस प्रक्रिया को खूब प्रोत्साहन देते थे।

तो, उस सभा में एक लड़की ने प्रश्न किया : ''मृत्यु क्या है ?'' एक छोटी बालिका द्वारा पूछा गया यह सवाल सुनकर कृष्णजी को आश्चर्य और कौतुक हुआ। उन्होंने बोलना प्रारम्भ किया, और मृत्यु का बाल-सुलभ स्पष्टीकरण उनकी वाणी से व्यक्त होने लगा : ''आपने नदी के तट पर मृत देह को ले जाते हुए देखा होगा, आपने किसी सूखे पत्ते और सूखे वृक्ष देखे होंगे, आप जानते हैं कि फल पकते हैं, फिर सड़कर नष्ट होते हैं।.... आज जो मनुष्य जीवित है, हो सकता है कि कल किसी दुर्घटना का शिकार बन जाय। मृत्यु हम सबके लिए एक समान हकीकत है।

''जिसे हम जीवन कहते हैं और मृत्यु कहते हैं—वह क्या है ?.... यह एक जटिल समस्या है।.... यदि हम जीना क्या है, यह समझ लेंगे, तो शायद मृत्यु क्या है यह भी समझ लेंगे।.... हम मृत्यु को जीवन से अलग मानते हैं, किन्तु क्या ऐसा है ? क्या जीते जाना मरने की प्रक्रिया नहीं है ?

''....अब देखिए, मृत्यु में किस चीज का अन्त होता है ? जीवन क्या है ? क्या केवल श्वास-नि:श्वास की प्रक्रिया जीवन है ? खाना-पीना, प्रेम करना, द्वेष करना, प्राप्त करना, स्वामित्व रखना, तुलना करना, मत्सर पालना—यही सब हम जानते हैं जीवन के रूप में। हममें से अधिकांश लोगों के लिए जीवन दुखमय है। वेदना और सुख की अनुभूति आशा और निराशा का सतत चलनेवाला द्वन्द्व है। क्या इसका अन्त नहीं हो सकता ? क्या हमें मरना नहीं चाहिए ? शरद् ऋतु में वृक्षों के पत्ते गिरते हैं और वसन्तकाल में पुन: नजर आने लगते हैं। वैसे ही, क्या हमें कल की सभी चीजों के लिए, हमारी जुटाई हुई सारी आशाएँ, सफलताएँ विसर्जित करके, मृत नहीं हो जाना चाहिए ? और, फिर

कल के प्रातःकाल में पुनः जीवन्त नहीं हो जाना चाहिए, ताकि नये कोमल पत्तों के समान हम ताजे, नाजुक और संवेदनशील हो जायँ? जो सतत मृत होता रहता है, उसके लिए मृत्यु मृत्यु नहीं रह जाती। किन्तु जो मनुष्य कहता है, 'विशेष कुछ हूँ मैं', और मुझे सदा-सर्वकाल तक जीते रहना चाहिए—उसके लिए मृत्यु सदा तैयार रहती है, श्मशान का घाट उसकी राह देखता रहता है। वह प्रेम का परिचय नहीं पाता।''

भय से मुक्ति की युक्ति

मृत्यु का भय यानी अज्ञात का भय, 'मैं' और 'मेरा' छूट जाने का भय। लेकिन नित्य मरना सीखकर हर पल नया जीवन पाया जा सकता है और मृत्यु को पार किया जा सकता है। फिर तो उसका भय काफूर हो जायेगा। परन्तु दूसरे कितने ही भय हम सबको सताते रहते हैं, उनका क्या हो? माता-पिता भयभीत रहते हैं बच्चों के भविष्य की चिन्ता के कारण, बेटा बीमार हो जायेगा, उसे अच्छी नौकरी नहीं मिलेगी। बच्चों को अन्धेरे का डर लगता है, स्कूल की परीक्षा का, अध्यापक की डाँट का, विद्यालय के अनुशासन का भय लगता रहता है। भय के कारण झूठ का सहारा भी लेना पड़ता है। लड़कियों को तो इनसे भी अधिक और कई बातों का भय रहता है : शादी ठीक होगी या नहीं? ससुरालवाले अच्छे होंगे या नहीं, इत्यादि।

भय की यह समस्या मनुष्य की सारी ऊर्जा खत्म कर डालती है। ठीक से स्वस्थ, प्रेमपूर्ण, आनन्दमय-जीवन में जीना हो तो भय से मुक्त होना जरूरी है। परिस्थितियाँ तो हमेशा चुनौतियाँ लेकर आयेंगी ही। हर स्थान पर मतभेद है, स्पर्द्धा और गुण्डागर्दी है, भ्रष्टाचार और आक्रामकता है। कैसे होगा इनका मुकाबिला? कृष्णजी कहते हैं : ''किसी तरह का भय मन में उठते ही उसकी ओर तटस्थ, स्थिर होकर देखने की कला सीखो, न उससे भागो, न किसी चीज का आश्रय लेकर

छिप जाओ। भय की नजर से नजर मिलाओ, और फिर देखो वह कैसे स्वयं भाग निकलता है।''

स्कूल के बच्चों को एक बार कृष्णजी ने अपना ही अनुभव सुनाया था। कैलिफोर्निया में वे अकेले घने जंगल में घूमने गये थे। जंगल की पगडण्डी पर उनकी निगाहें नहीं थीं। वे देख रहे थे पेड़ों की सघन

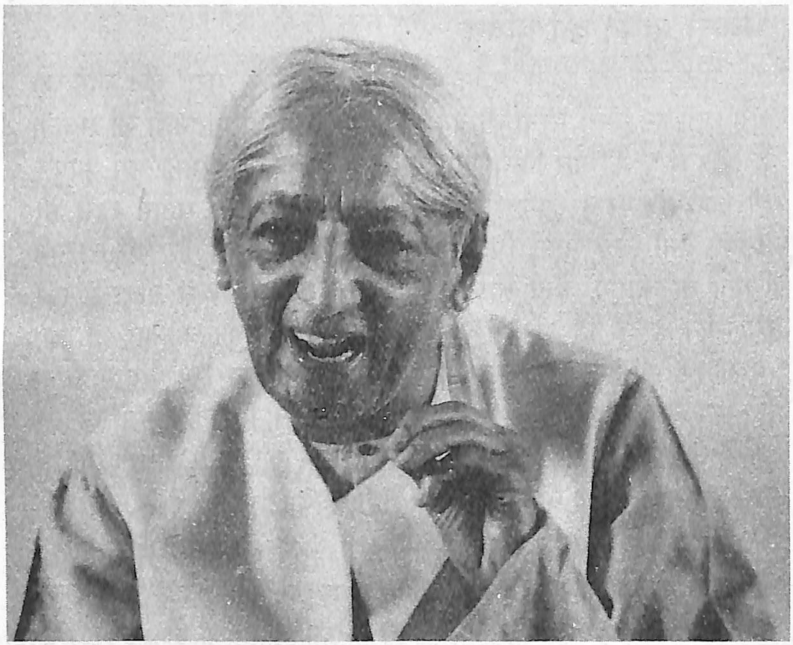

हरियाली को, और तभी अचानक उन्होंने 'खड़-खड़' जैसी आवाज सुनी। सुनते ही वे कूदे, क्योंकि वे जानते थे कि यह आवाज रैटलर

नाम के विषैले नाग की है। फिर रैटलर और कृष्णजी एक-दूसरे की ओर ताकने लगे। कुण्डली मारकर वह नाग अपना फन खड़ा करके देखता रहा—कृष्णजी पीछे हटते तो वह आगे बढ़ता, वे आगे बढ़ते तो नाग पीछे हटकर मानो डँसने की तैयारी करता! यह खेल आधे घण्टे तक चला। आखिर वह नागराज थककर हरी-भरी घास के बीच अदृश्य हो गया। कृष्णजी ने समझाया : ''ऐसे ही देखो डर की ओर, वह भी लुप्त हो जायेगा।''

अध्यापकों से स्कूल में और माता-पिता से घर में यदि बच्चों को अनुशासन के लिए मारपीट या अपमान सहना पड़ेगा तो उसके कारण बच्चों की मनोवृत्ति कुण्ठित होती है, वे दब्बू बनते हैं। स्वतंत्र और निर्भय वातावरण में ही बालकों का विकास ठीक से होता है। कृष्णजी ने यह बात कई तरह से समझायी है। कई लोग पूछेंगे कि फिर अनुशासन का क्या होगा? कृष्णजी ने कहा है : ''बच्चे आपस में लड़ें-झगड़ें नहीं, क्लास में समय पर पहुँचें, उनमें जिम्मेदारी की भावना का विकास हो, यह हम चाहते हैं तो उसका एक ही उपाय है कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच परस्पर खूब प्रेम और सम्मान का भाव हो और आपस में गहरा विश्वास और अपनापन हो। तब यह अनुशासन की समस्या न घर में रहेगी, न स्कूल में। अनुशासन या व्यवस्था बच्चों पर बाहर से, छड़ी से या डाँट-डपट से लादी जायेगी, तो उससे छुटकारा पाने की प्रेरणा उनको होगी ही। विश्व की समूची व्यवस्था में सूरज और चाँद भीतर से ऐसे सम्बद्ध हैं कि वे समय का पालन ठीक से करते ही हैं। इसी तरह मानव समाज की, घर और स्कूल की व्यवस्था में भी बच्चे शामिल किये जायँ, और उन्हें प्रेमपूर्वक सब कुछ समझा दिया जाय, तो जिम्मेदारी और अनुशासन के भाव अपने आप विकसित होते हैं। बहुत कुछ निर्भर होता है शिक्षक के अपने व्यवहार पर।''

सृष्टि की खुली किताब

बच्चों में खुलापन, निर्भयता और प्रेम का भाव पनपे इसके लिए किताबी ज्ञान से कई गुना अधिक जरूरी है सृष्टि की निकटता, प्रकृति के अलग-अलग रूप निहारने की सहूलियत—ऐसा कृष्णजी समझाते थे। जीवन की खुली किताब है यह विविध ऋतुओं में नृत्य करती, नदी-झरनों में गीत गाती, पहाड़-पर्वतों में गम्भीरता से स्थिर रहनेवाली सृष्टि! नीला आकाश, उसमें तैरनेवाले बादल, स्वच्छ-निर्मल आकाश के यात्री वे असंख्य चमकते ग्रह-नक्षत्र, पूर्णचन्द्र की सौम्य-शान्त चाँदनी, बहते पानी पर उतरा उसका चाँदी जैसा प्रकाश, सूर्योदय-सूर्यास्त! प्रकृति का यह दर्शन बच्चों और प्रौढ़ों को भी, तरोताजा, प्रसन्न, निर्मल बना देता है। और वे वृक्ष! हरएक की नयी नृत्य-भंगिमा, ताजी गंध, बदलता रंग, उनके फूल-फल और उन पर मँडराती तितलियाँ और गुंजन करते भँवरे! उनपर घोंसले बनाकर अपना संसार बसानेवाले पंछी? उनके गीत? किस-किस की शोभा का वर्णन करें! जीवन का सारा सौन्दर्य ही इन प्राकृतिक रचनाओं में उड़ेला गया है! बचपन का कृष्णा, कृष्णजी बनने पर भी, इस प्राकृतिक जगत् में वैसे ही बालक बनकर खो जाता था। 'जीवन-भाष्य' ('कमेंट्रीज ऑन लिविंग' दूसरा भाग) में उन्होंने एक स्थान पर जिक्र किया है : ''टहनी पर बैठा स्थिर, ध्यानमग्न तोता कहीं मेरी आहट पाकर उड़ न जाय इसलिए मैं आँखों की पलकें भी हिलाये बिना स्थिर खड़ा रहता था!'' उनका विश्व में ख्याति प्राप्त, अनोखा जीवन-दर्शन प्रकृति के सान्निध्य के कारण ही तो उनके चित्त के निरामय-निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ होगा?

प्रेम का जादू और 'अन्य' की आहट

प्रकृति का यह प्रेम कृष्णजी के रोम-रोम में, उनकी सारी चेतना में व्याप्त था। इस प्रेम का स्पर्श पाकर नित्या की आँखें, किसी बहन का

पक्षाघात और कितनों की, कितनी ही कमजोरियाँ दूर हो गयी थीं।

एक बार राजघाट में वरुणा-पार के कृषिक्षेत्र से वे मित्रों के साथ गुजर रहे थे। रास्ते में आम्र वृक्षों का एक विहार आया। कृष्णजी उसकी ओर नजर लगाकर निहारते जा रहे थे, इतने में कृषिक्षेत्र में काम करनेवाले एक मित्र ने कहा : ''अब ये वृक्ष किसी काम के नहीं हैं, न बौर आते हैं इनमें, न फल लगते हैं। इस वर्ष इन्हें काट डालेंगे गर्मी से पहले!'' बात सुनकर कृष्णजी की आँखें भर आयीं! उन्होंने एक-एक वृक्ष के पास जाकर कहा : ''देखो, इस वर्ष के मौसम में तुम पर बौर आने होंगे, खूब फल लगने होंगे, वरना तुम्हें काट देंगे ये लोग।'' उनके स्पर्श एवं शब्दों का इतना असर हुआ कि उन आम के पेड़ों में पुनः बौर आये और वे फल देने लगे। ऐसे पेड़ों की संख्या कुल तीस थी। कृष्णजी के स्नेह-स्पर्श से और उनकी वाणी से उनमें नवजीवन आ गया। डॉ० उपासनीजी स्वयं इसके साक्षी थे।*

प्रेम की नजर, करुणा के स्पर्श में ऐसा जादू होता है। यह कोई चमत्कार नहीं है, यह है जीवन का एक मूलभूत अनुभूत सत्य! भ्रान्त, संकीर्ण 'मैं' की अनुपस्थिति में, व्यक्ति-चेतना के निर्मल खालीपन को, विश्व-चेतना की ऊर्जा, करुणा और प्रेम का रूप लेकर भर देती है। कृष्णजी कहते हैं कि, ''इसमें व्यक्ति का अपना कुछ भी नहीं है, यह वैश्विक चेतना का ही खेल है। यही उसका आशिस् है, यही उसकी पावनता है! यह जीवन का सर्वव्याप्त, शब्दों में न समानेवाला, अकथनीय सत्य स्वयं होकर ही समझा जा सकता है।'' इसे कृष्णजी ने 'जीवन' तो कहा, किन्तु अदृश्य, सर्वत्र व्याप्त, इस कालातीत,

---

* ३१ दिसम्बर सन् २००० को पुर्णे के निकट, खेड़ तालुका में स्थित, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन के सहयाद्रि स्कूल व 'स्टडी सेन्टर' में श्री खैरनार और कल्याणीजी के निमंत्रण पर मैं गयी थी। उस समय डॉ० उपासनीजी से भी मुलाकात हुई। उनसे पूछने पर उन्होंने मुझे यह बात बतायी थी।

अमेय को कृष्णजी अंग्रेजी में 'दि अदर' यानी 'वह अन्य' कहकर सम्बोधित करते थे। मानव-जाति के लिए अपनी स्वयं की कौन-सी महत्त्वपूर्ण शिक्षा है यह बताते हुए उन्होंने कहा था : ''जहाँ आप नहीं हैं, वहाँ 'वह अन्य' उपस्थित है।''

इस 'अन्य' का कुछ अहसास अपने स्कूल की शिक्षा से बालकों को हो, यह कृष्णजी की तीव्र इच्छा रहती थी। इससे बच्चों में प्रज्ञा, अन्तर्दृष्टि खुलती है, उनकी स्वतंत्र चेतना कोमल संवेदनशीलता से वैभवशाली बनती है और उनके सारे सम्बन्ध अनासक्त, प्रेममय हो जाते हैं, यह कृष्णजी का अनुभूत दर्शन था। आन्तर्दृष्टि खुलने से उचित-अनुचित का अहसास स्वयं ही जगता है, फिर किसी पर जबरदस्ती से अनुशासन स्थापित करना नहीं पड़ता। यही शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य होना चाहिए, यह भी कृष्णजी ने स्पष्ट किया था।

आप स्वयं विश्व हैं !

किसी विद्यार्थी ने उनसे पूछा : ''तो क्या शिक्षित होकर हमें डॉक्टर, वैज्ञानिक या इंजीनियर नहीं होना चाहिए?'' कृष्णजी ने कहा : ''क्यों नहीं? आप खूब पढ़िए, डॉक्टर, इंजीनियर अवश्य बनिए। नित्य के समाज-जीवन में घड़ी का काल, परीक्षाओं की तैयारी, किताबी पढ़ाई, मकान, मोटर इत्यादि आवश्यक चीजें—इनका अपना स्थान अवश्य है। लेकिन जीवन का सौन्दर्य, प्रेम, सत्य ये मूल्य आपके कम्प्यूटर के लिए किस कीमत के हैं? कम्प्यूटर आज मनुष्य की बुद्धि को मात दे रहा है, गणित में वह सबको पराजित कर सकता है, चित्र बना सकता है, कविता तक लिख लेता है। मानव का मस्तिष्क उसके सामने कुछ भी नहीं है। परन्तु मानव-हृदय का अहंविलोपन, उसकी ध्यानावस्था, अच्छाई की विलक्षणता कम्प्यूटर में कहाँ है? मानव की यह खासियत हमें नयी पीढ़ियों में टिकाये रखनी होगी—वरना हम दोयम दर्जे के कम्प्यूटर बनकर, सामान्य अदने लोग बनकर रह जायेंगे। और, हम अपने राग-द्वेष से, क्रोध-मत्सर से विश्व को भस्म कर

डालेंगे। विज्ञान अपनी तकनीकी से इसमें सहायक भी हो रहा है। भविष्य की इस भीषण सम्भावना को टालकर इस सुन्दर पृथ्वी को सुरक्षित, फलती-फूलती बनाये रखने की जिम्मेदारी हम सबकी है, हरएक की है। क्योंकि हममें से हरएक पूरे विश्व का ही एक छोटा स्वरूप है। आप स्वयं विश्व ही हैं!''—कृष्णजी ने कहा है।

शिक्षा के परिसर में रहते-रहते इतनी गहरी समझ बालकों में विकसित होगी तो वैश्विक दृष्टि उनमें आयेगी। तब केवल अपने देश या गिरोह के लिए ही नहीं, मानवमात्र के लिए, सारी धरती के लिए, उसके जीव-जन्तुओं के लिए हिफाजत करने की वृत्ति उनमें सहज विकसित होगी और उसमें से प्रत्यक्ष कर्म प्रकट होगा। यही वास्तव में धार्मिकता है। पूजा-पाठ, मन्दिर या गिरजाघर के दर्शन, यह धार्मिकता नहीं है, यह है केवल परम्परा की बनायी आदतें, जिनमें कोई प्राण नहीं होता।

सच्ची धार्मिकता परावलम्बन से मुक्त रहती है इसलिए स्वयं-प्रज्ञा का आत्मदीप वह बालकों में प्रज्वलित करेगी। यह प्रज्ञा या आत्मदीप किसी के व्यक्तिगत स्वामित्व की चीज नहीं है। यह वैयक्तिक है ही नहीं। संकीर्णता, झूठ, लापरवाही के कीचड़ का, 'मैं'पन का इस प्रज्ञा को स्पर्श भी नहीं होता। हठाग्रह के, भय-आतंक के वातावरण में आत्मदीप की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, उसे चाहिए स्वतंत्र, प्रेमपूर्ण, जिम्मेदारी का, सुन्दर और परिपूर्ण अनासक्त कर्म का वातावरण। अपने स्कूलों में ऐसा वातावरण बच्चों को मिले, यह कृष्णजी का प्रयास था। जहाँ बच्चों के हृदयपुष्प की एक-एक पँखुड़ी अनेक भावपूर्ण रंगों की छटाएँ बिखेरती हुई खिल जाय, मानो असंख्य इन्द्रधनुओं की बाग बहार ही में आयी हो—शिक्षा का ऐसा परिसर कृष्णजी को अभिप्रेत था।

कृष्णजी के लिए यह कहा जाता है कि उन्होंने विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर के निकट ला दिया, इन दोनों को जोड़ दिया। अनेक

वैज्ञानिकों के साथ उनका संवाद चला। कितने ही अध्यात्मनिष्ठों ने उनसे वार्तालाप किये। असंख्य कलाकार भी विश्वभर से उनके पास चर्चा करने आये। और अगणित स्त्री-पुरुष अपनी समस्याएँ लेकर उनके पास समाधान के लिए पहुँचे। कृष्णजी के दर्शन में सर्वव्यापी आकर्षण था।

अध्यात्म की गरुड़ उड़ान

लेकिन उनके अध्यात्म-दर्शन की गरुड़ उड़ान यह थी कि सभी आकार, सारे भाव-विभाव, समूचे शब्द और विचार जिस 'मैं' के प्रांगण में ही अवसर पाते हैं, उसके परे निकले बिना समग्र-सम्पूर्ण जीवन से, उस सर्वव्याप्त, असीम 'अन्य' से मिलन सम्भव नहीं। अध्यात्म का अर्थ ही है 'स्व से सम्बन्धित शास्त्र'—यानी 'मैं' के आवर्त में गहरे उतारकर उसके शून्यत्व को दिखा देनेवाला शास्त्र। यह 'देखना' ही समस्याओं का हल है। इस 'देखने' में उपस्थित है 'अवभान' या सहजता—जिसे कृष्णजी 'अवेअरनेस' कहते हैं, और यही 'समग्र अवधान' भी है—यानी कृष्णजी की भाषा में 'टोटल अटेन्शन' है। समग्र अवधान में आन्तर्दृष्टि—इन्साईट—प्रकट होकर अवलोकन का ऐश्वर्य उड़ेलती है। यह अवलोकन ही, यह मोहमुक्त, अनासक्त, दर्शन ही मुक्ति का पहला और अन्तिम चरण होकर ध्यान के असीम आयाम में प्रवेश बन जाता है। तब 'मैं' की अनुपस्थिति में, वह 'अन्य' व्याप्त हो जाता है। इस ध्यान के आयाम में न देखनेवाला द्रष्टा है न ध्यान करनेवाला ध्याता, इसीलिए वह असीम, सर्वव्याप्त होता है।

द्रष्टा ही दृश्य

कृष्णजी का ध्यान ऊँकार जैसा कोई शब्द या स्वर अथवा श्वास आधार के लिए नहीं स्वीकारता, ऐसे आधार से ध्यान संकुचित बनता है। कृष्णजी कहते हैं : ''ध्यान में ध्याता तो होता ही नहीं। क्योंकि द्रष्टा या ध्याता की जड़ में 'मैं' छिपा रहता है—वह सीमित का,

अलगाव का, हिंसा का ही मूर्तरूप है न? अवलोकन के 'सर्च लाईट' के सामने 'मैं' पिघल गया कि द्रष्टा दृश्यरूप हो जाता है,'' कृष्णजी कहते हैं, ''द्रष्टा ही दृश्य है'' (ऑबजर्वर इज दि ऑबजर्वड्!)

अपने 'प्रियतम' से, उस 'अन्य' से एक बार मिल जाने के पश्चात् कृष्णजी के लिए यह ध्यानावस्था 'सहज-समाधि' बनकर नित्य की साथी रही। कबीर ने गाया था :

''आँख न मूँदो, कान न रुँधौ,
तनिक कष्ट नहि धारौ,
खुले नैन हँसि-हँसि पहिचानौ,
सुन्दर रूप निहारौ!
साधो, सहज-समाधि भाली!''

कृष्णजी कहते, ''यह मानव का वास्तविक ऐश्वर्य है!''

यह ऐश्वर्य बालकों को, नयी पीढ़ियों को स्वयंप्रज्ञा के पराक्रम से हासिल कर लेना चाहिए, यह कृष्णजी की तड़पन थी। ध्यान जीवन जीने की कला है, इसे आज के बालक और युवावर्ग सीखेंगे तो वे आनेवाले युग से हार नहीं मानेंगे। यह युग है भोगलिप्सा को बढ़ावा देनेवाला, स्पर्द्धा और युद्ध को उकसानेवाला। इन संकटों से पार निकल जाने के लिए, उनके प्रवाह में बह न जायँ इसलिए कृष्णजी का मानव-जाति के लिए सुझाया 'दर्शन' बच्चे प्रत्यक्ष जीकर आजमायें, दोस्ती में बढ़ाये कृष्णजी के हाथ पर प्रेम से अपना हाथ रखें। यही मित्रता कहलाती है न?

✹

सन्दर्भ-ग्रंथ

१. लाईफ एण्ड डेथ ऑफ कृष्णमूर्ति — मॅरी लट्यन्स,
२. जे० कृष्णमूर्ति — पुपुल जयकर,
३. लेटर्स टू द स्कूल्स (दो खण्ड) — जे० कृष्णमूर्ति
४. लाईफ अहेड् — जे० कृष्णमूर्ति
५. कृष्णमूर्ति टू हिम्सेल्फ — जे० कृष्णमूर्ति
६. पोएम्स् एण्ड पॅरॅबल्स् — जे० कृष्णमूर्ति
७. ॲज द रिवर जॉइन्स द ओशन — जी० नारायणन्

··सभी आकार, सारे भाव-विभाव, समूचे शब्द और विचार जिस 'मैं' के प्रांगण में ही अवसर पाते हैं, उसके परे निकले बिना समग्र-सम्पूर्ण जीवन से, उस सर्वव्याप्त, असीम 'अन्य' से मिलन सम्भव नहीं। अध्यात्म का अर्थ ही है 'स्व से सम्बन्धित शास्त्र'—यानी 'मैं' के आवर्त में गहरे उतारकर उसके शून्यत्व को दिखा देनेवाला शास्त्र। यह 'देखना' ही समस्याओं का हल है। इस 'देखने' में उपस्थित है 'अवभान' या सहजता—जिसे कृष्णजी 'अवेअरनेस' कहते हैं, और यही 'समग्र अवधान' भी है—यानी कृष्णजी की भाषा में 'टोटल अटेन्शन' है। समग्र अवधान में आन्तर्दृष्टि—इन्साईट—प्रकट होकर अवलोकन का ऐश्वर्य उड़ेलती है। यह अवलोकन ही, यह मोहमुक्त, अनासक्त, दर्शन ही मुक्ति का पहला और अन्तिम चरण होकर ध्यान के असीम आयाम में प्रवेश बन जाता है। तब 'मैं' की अनुपस्थिति में, वह 'अन्य' व्याप्त हो जाता है। इस ध्यान के आयाम में न देखनेव
करनेवाला ध्याता, इसीलिए वह अ

(इसी पुस्तक का ए

Library IIAS, Shimla
H 181.49 K 897 T
G6095

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट · वाराणसी